जीवन विवेचन

भाग 1 (ख)

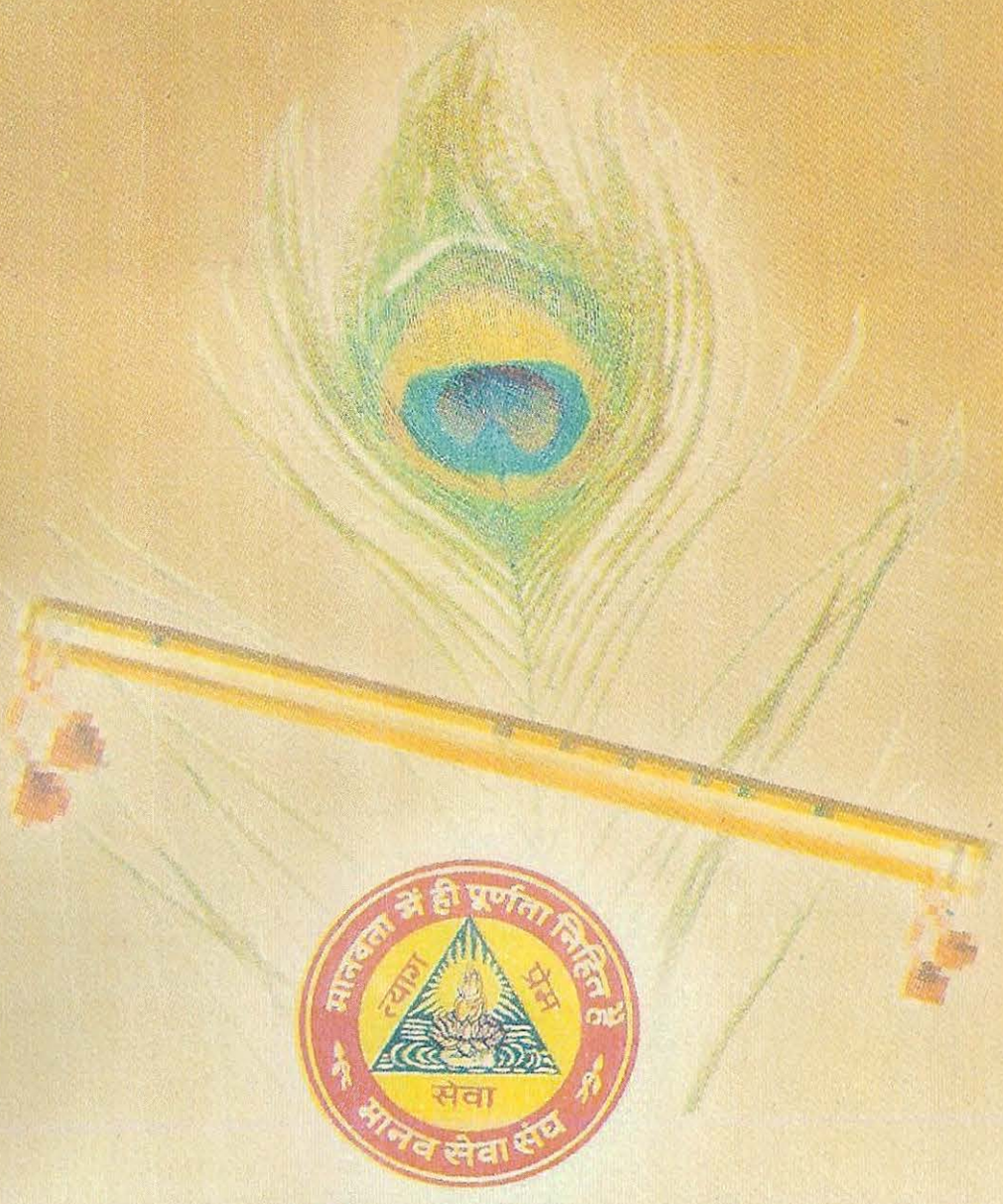

मानव सेवा संघ, प्रकाशन
वृन्दावन (मथुरा)

जीवन विवेचन

भाग 1(ख)

परम पूज्या दिव्य ज्योति
देवकी माताजी के प्रवचन

मानव सेवा संघ प्रकाशन
वृन्दावन (मथुरा)

• प्रकाशक :

मानव सेवा संघ
वृन्दावन (मथुरा)
पिन-281121

© सर्वाधिकारी प्रकाशक

• तृतीय संशोधित संस्करण—2007

• 4000 प्रतियाँ

• मूल्य Rs 20

• मुद्रक :
पावन प्रिन्टर्स,
मेरठ

प्रार्थना

('प्रार्थना' आस्तिक प्राणी का जीवन है।)

मेरे नाथ!
आप अपनी,
सुधामयी,
सर्व समर्थ,
पतितपावनी,
अहैतुकी कृपा से,
दुःखी प्राणियों के हृदय में,
त्याग का बल,
एवं
सुखी प्राणियों के हृदय में,
सेवा का बल
प्रदान करें;
जिससे वे
सुख-दुःख के
बन्धन से
मुक्त हो,
आपके
पवित्र प्रेम का
आस्वादन कर,
कृतकृत्य हो जायें।

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !

प्रार्थना

मेरे नाथ,

आप अपनी सुधामयी, सर्व समर्थ, पतित पावनी, अहैतुकी कृपा से मानव मात्र को विवेक का आदर तथा बल का सदुपयोग करने की सामर्थ्य प्रदान करें एवं हे करुणा सागर ! अपनी अपार करुणा से शीघ्र ही राग-द्वेष का नाश करें। सभी का जीवन सेवा-त्याग-प्रेम से परिपूर्ण हो जाए।

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !

वस्तु खिंचती है धरती की ओर
मनुष्य खिंचता है अनन्त की ओर।

अनुक्रमणिका

क्रमांक		पृष्ठ संख्या
1.	प्रवचन 11	...7
2.	प्रवचन 12	...21
3.	प्रवचन 13	...34
4.	प्रवचन 14	...48
5.	प्रवचन 15	...59
6.	प्रवचन 16	...69
7.	प्रवचन 17	...80
8.	प्रवचन 18	...88
9.	प्रवचन 19	...101
10.	प्रवचन 20	...112

मेरा मुझमें कुछ नहीं,
जो कुछ है सो तोर !

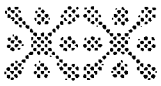

श्री सद्गुरु देव के श्री चरणों में
सादर सविनय समर्पित

—विनीता देवकी

प्रवचन 11

उपस्थित महानुभाव, सत्संग प्रेमी माताओ, बहिनो और भाइयो,

भौतिक उन्नति और आध्यात्मिक विकास अर्थात् अविनाशी जीवन की अभिव्यक्ति—इन दोनों ही बातों के लिए हम सभी को विश्राम की आवश्यकता है। अपनी वर्तमान दशा को सामने रखकर हम लोग देखें। दोनों समस्याएँ हमारे सामने आती हैं। एक तो दिखाई देने वाला जगत् है, जिसके सम्बन्ध में हमें ऐसी आवश्यकता मालूम होती है कि मुझको इस जगत् में कुशलतापूर्वक रहना चाहिए और एक अपने ज्ञान का प्रकाश है, जिससे हम इस बात को जानते हैं कि शरीर और संसार का संयोग सदा के लिए रह भी नहीं सकता और सदा के लिए प्रिय भी नहीं लग सकता। इस दृष्टि से इसको "जीवन" कर के स्वीकार नहीं कर सकते हैं। अपने को जरूरत ऐसी है कि जीवन भी हो, अविनाशी भी हो, आनन्दमय भी हो और रसरूप भी हो। तो जो हमारी-आपकी स्वाभाविक माँग है, वस्तुतः जीवन का वही स्वरूप है और उसकी माँग हमारे भीतर मालूम होती है। उस जीवन से अभिन्न होने का सूत्रपात यहीं से आरम्भ होता है।

इस दिशा में विचार करने से सन्त की वाणी को सुनकर उसके प्रकाश में जीवन का अध्ययन करने से दो बातें स्पष्ट होती हैं। एक तो जैसे महाराजजी ने कहा—शरीर-धर्म का पालन। अगर हम ईमानदारी के साथ शरीर को समाज की, संसार की वस्तु मानकर उनकी सेवा में लगाने का व्रत ले लें, तो अपने शरीर का बोझ हम लोगों को ढोना नहीं पड़ेगा। जब कोई व्यक्ति शरीर को समाज की वस्तु मानकर उसकी सेवा में लगाने के लिए तत्पर हो जाता है, तो समाज उसके प्रति उदार हो जाता है। व्यक्ति की तुलना में समाज की उदारता बहुत बड़ी है और समाज की तुलना में परमात्मा की उदारता अनन्त है। आप अगर अपनी ओर से व्यक्तिगत

स्वार्थ छोड़कर उदार हो जाते हैं, इस बात के लिए कि हमारे पास शरीर है, तो इसको समाज की सेवा में लगाएँ। तो जितनी उदारता आप में है, उससे सहस्र गुना अधिक उदारता समाज में है और उससे असंख्य गुणा अधिक उदारता परमात्मा में है। वे जब आपकी सेवा करने लग जाते हैं, तो उनकी उदारता की कोई सीमा *(Limit)* नहीं रहती है। जो व्यक्ति समाज के हित के लिए शरीर को समर्पित कर देता है, उसको अपने व्यक्तिगत जीवन का भार नहीं ढोना पड़ता। तो इस तरह से संसार में कुशलता से निर्वाह हो गया। जो लोग अपने को, स्वयं को सर्वसमर्थ प्रभु को समर्पित कर देते हैं, उनको फिर अपने कल्याण का प्रयास नहीं करना पड़ता और कोई नया पुरुषार्थ भी नहीं करना पड़ता।

मीराजी का एक भजन मुझे याद आता है। उसमें एक वाक्य है, "भव सागर सब सूख गयो है, फिकर नहीं मोहे तरनन की। मोहे लागी लगन गुरु चरणन की" ऐसा कुछ है। अपने तरण-तारण की फिकर मीरा को नहीं है। क्यों नहीं है? कि मीराजी का भव-सागर सूख गया है। क्या मतलब है? कि भव-सागर में अर्थात् संसार से अनित्य सम्बन्ध को नित्य सम्बन्ध मान लेने के अपराध में जिन विकारों से हम बँध गए हैं, वे सारे विकार मीराजी के नाश हो गए। हम लोग अनुभव करते हैं कि क्या बताएँ, हम तो भव-सागर में डूब रहे हैं, उतरा रहे हैं, कोई किनारा नहीं दिखाता है—ऐसा आदमी को कब महसूस *(Feel)* होता है? जबकि वह लोभ, मोह, क्रोध से ग्रसित है। तो लोभ, मोह, क्रोध से पीड़ित व्यक्ति चाहता है कि उसको आराम मिले। क्रोध, मोह, लोभ का परिणाम बड़ा ही दुःखदायी होता है। उससे वह अपने को बचाना चाहता है, पर उससे छूट नहीं पाता। तब कहता है कि हम तो भव-सागर में डूब रहे हैं। मीराजी के लिए यह भव-सागर सूख गया था। उनके सामने क्रोध, लोभ, मोह की कोई पीड़ा थी ही नहीं। उनके सामने यह कोई प्रश्न ही नहीं था। तो वे गातीं बड़े

ही मुक्तकण्ठ से—"भव-सागर सब सूख गयो है, फिकर नहीं मोहे तरनन की।" अब तो मुझे अपने उद्धार की चिन्ता ही नहीं है। तो उनका भव-सागर उनके सामने से हट गया था। ऐसा कोई बन्धन, ऐसी कोई बेबसी, पीड़ा उनको रही नहीं। हम सब लोग भी ऐसा ही चाहते हैं कि जीवन निर्विकार हो जाए, जीवन सब प्रकार से शुद्ध हो जाए, उसमें परम शान्ति रहे, उसमें पूर्ण स्वाधीनता रहे।

ऐसा जो हम लोगों का अपना उद्देश्य है, जीवन की एक माँग है, उसकी पूर्ति के लिए क्या पुरुषार्थ चाहिए? अपने सब विकारों और सब त्रुटियों के सहित उस परमात्मा के समर्पित हो जाना। यह विश्वास-पथ की दृष्टि से एक बहुत बढ़िया साधन है। सब प्रकार से उस समर्थ प्रभु के समर्पित हो जाओ। अपने को जो समर्पित कर देता है, उसको फिर अपने को सम्हालने का कोई नया साधन नहीं करना पड़ता।

एक नगर में मैं सत्संग में गई। वहाँ एक व्यक्ति आए और कहने लगे—हमारे एक भाई बहुत दुःखी हैं माताजी। वे आपसे मिलना चाहते हैं। किसी तरह से उनका दुःख कम हो जाए। मैंने कहा—भाई! लाइए भेंट कराइये। तो एक दिन वे लोग आए। पति-पत्नी बहुत ही अधीर थे। उनकी सबसे बड़ी लड़की 15-16 साल की थी। मैट्रिक पास किया, बहुत अच्छा रिजल्ट *(Result)* रहा, कॉलेज में नाम लिखवाया, सारा इन्तजाम किया। उसके बाद अचानक उसका देहान्त हो गया। इससे माता-पिता बहुत दुःखी थे। वे पढ़े-लिखे लोग थे। पति कॉलेज में *Lecturer* थे और पत्नी भी महाविद्यालय में कहीं पढ़ाती थी। वे समझदार लोग थे। वह महिला मुझसे बार-बार कहे, कि माताजी! लड़की का दुःख मेरे भीतर से निकलता ही नहीं है किसी प्रकार से। खूब रोएँ, खूब दुःखी हों और मैं जब समझाने की चेष्टा करूँ तो कहे कि माताजी, इन सारी बातों को मैं जानती हूँ और मैं चाहती हूँ कि किसी प्रकार से यह शोक मेरे भीतर से

निकल जाए। देखो कैसा-कैसा चिन्तन होता है व्यक्ति का ! वह यह भी समझ रही थी कि रोने से लड़की लौटकर आयेगी नहीं। यह भी समझ रही थी कि रोते रहना समझदारी नहीं है और भविष्य के लिए डर भी रही थी। वह कह रही थी कि मुझको इतना दुःख हो रहा है माताजी, कि मुझे लगता है कि मैं कहीं पागल न हो जाऊँ। हमारे जो बाकी बच्चे हैं, उनका पालन कौन करेगा? यह भी उनकी समझ में आ रहा है और फिर भी परेशान थी।

इसी को मैं "भवसागर" कहती हूँ। पीछे का दुःख भी सता रहा है, आगे का भय भी सता रहा है। उसमें से निकलना चाहते हैं और निकला नहीं जाता। इसको मैं "यम-यातना" कहती हूँ। व्यक्ति अपनी सजगता में, अपने विवेक के प्रकाश में इस बात को जानता है कि मोह का परिणाम, लोभ का परिणाम सदा ही दुःखदायी है। यह जानता हुआ भी वह लोभ और मोह के फन्दे में पड़ा हुआ तड़पता है। इसी को मैं भवसागर कहती हूँ। भवसागर के पार होना हम सब भाई-बहिनों को अभीष्ट है। उसके लिए "कर्म-मार्ग" है, "ज्ञान-मार्ग" है, "भक्ति-मार्ग" है। भक्ति-मार्ग की दृष्टि से मैं यह निवेदन कर रही हूँ कि यह बहुत ही अच्छी साधना है। कोई भी ईश्वर में विश्वास करने वाले भाई या बहिन एक बार अपनी ओर से अपने को प्रभु के समर्पित कर दे और इस भाव से कर दे कि हे प्रभु ! अब तक का सारा समय आपकी विमुखता में, संसार के बन्धन में गँवा दिया मैंने। आज मैं इतना असमर्थ हूँ कि अपने द्वारा अपने को सम्हाल नहीं सकता। हे कृपालु ! हे पिता ! हे जगत्-जननी ! आपकी शरण में हूँ, आप सम्हालें। अनुभवी संतजन से मैंने ऐसा सुना है कि अपनी असमर्थता से अधीर होकर व्यक्ति प्रभु की शरणागति लेता है और अपनी कथा, अपना दुःख सुनाता है, तो उसकी प्रार्थना के वाक्य पूरे होते हैं पीछे और सर्व-समर्थ प्रभु उसकी बाँह पकड़ लेते हैं पहले। ऐसा होता है। हम अपना दुःख

सुनाएँगे। कहने में देर लगेगी, लेकिन उस नित्य विद्यमान समर्थ परमात्मा को इस बात को जानने में देर नहीं लगती कि यह मेरा बच्चा मुझसे क्या कहना चाहता है। आप वाक्य की रचना करेंगे, शब्दों का प्रकाशन करेंगे, उसमें आपका समय लगेगा। लेकिन अब यह मेरा अधीर बच्चा घबड़ाया हुआ मेरी शरण में आया हुआ मुझको क्या कहना चाहता है—इसके जानने में सर्वज्ञ परमात्मा को देर नहीं लगती और समर्थ परमात्मा को आपका हाथ पकड़ने में देर नहीं लगती।

स्वामीजी महाराज से अनुभव-सिद्ध वचन यह मैंने सुना था कि भाई ! तुम्हारी प्रार्थना का वाक्य पूरा होगा पीछे, और वे समर्थ प्रभु तुम्हारी बाँह पकड़ लेंगे पहले। तो इस वाणी में हम लोगों को विश्वास करना चाहिए। प्रभु की महिमा में विश्वास करना चाहिए। मैंने बड़ी ही अधीर दशा में इन वचनों को सुना था।

बिहार प्रान्त में भागलपुर एक नगर है। वहाँ पर सत्संग का कार्यक्रम चल रहा था। मैं महाराजजी के साथ थी। तीन साल हुए थे मुझे सन्त की शरण में आए, विचार के लिए, सत्संग के लिए। और स्वास्थ्य प्रारम्भ से ऐसा ही डगमग रहता रहा है, अच्छा नहीं रहता। उस समय तबियत कुछ ज्यादा खराब हो गई थी। मैं चुपचाप बिस्तर में लेटी हुई थी, भीतर-भीतर से परेशान थी। स्वामीजी महाराज आए। बिस्तर के पास एक कुर्सी रखवाकर उस पर बैठ गए और बैठकर मुझसे पूछने लगे कि देवकी जी ! मरने से डरती हो क्या ? सोचा कि भाई, अब हम क्या बताएँ इनको ! तो मैंने कहा—महाराजजी, अभी तो हमको पता नहीं चलता है। अभी तो लगता है कि मैं नहीं डरती हूँ। तो क्यों परेशान हो ? तो मैंने कहा कि स्वामी जी ! बहुत दिन तक बेचैन रहने के बाद मुझे सन्त का सम्पर्क मिला है और सत्संग मैंने आरम्भ किया है। तो मुझको चिन्ता है कि जल्दी से शरीर नाश हो गया, तो मेरी साधना अधूरी रह जाएगी। तो क्या करूँगी

मैं ? ऐसा मैंने कहा। इतने जोर का उनके भीतर उत्साह हुआ कि एकदम कहने लगे कि—"ईश्वरवाद को तुम ऐसी थोथी चीज समझती हो ? अरे देवकी जी ! अगर ईश्वरवाद ऐसा थोथा तत्त्व होता, तो मानव-समाज से कबका उठ गया होता। तुमने सोचा ही क्या है ? भगवान को तुमने क्या समझा है ? ऐसा नहीं होता है लाली। मैं सच्ची बात कहता हूँ तुम से, कि अधीर साधक की प्रार्थना के वाक्य पूरे होते हैं पीछे और समर्थ प्रभु उसकी बाँह पकड़ते हैं पहले।" दोनों बातें बहुत अच्छी थीं। मैं भीतर-भीतर बहुत परेशान थी। वह परेशानी ईश्वर-विश्वासी साधक के लिए बड़ी शुभ होती है। अधीर हो जाओ। भीतर से व्यक्ति जब अधीर होता है घबराता है भीतर से सत्य की प्राप्ति के लिए, परमात्मा की प्राप्ति के लिए, तो उसका अहंरूपी अणु जो है वह गल करके कोमल हो जाता है। जो बढ़िया ध्यान लगा सकता है, जो बढ़िया जप-तप कर सकता है, उसका अहं जो है वह साधना के बल पर थोड़ा और मोटा हो जाता है, कि मैं बहुत अच्छी तरह ध्यान कर सकता हूँ, मेरा तो कई-कई घण्टे ध्यान लगता है। साधना के बल पर अहं को गला कर आप अपने प्यारे से मिलने के लिए चले थे, लेकिन साधना के बल का सहारा लेकर अपने और उनके बीच की दीवार थोड़ी और मोटी बना ली। लेकिन ईश्वर-विश्वासी साधक जो प्रभु की महिमा में विश्वास करता है, प्रभु की कृपालुता में विश्वास करता है, वह नित्य निरन्तर मुझमें ही विद्यमान है, सदैव मेरे साथ है—इस बात में जो विश्वास करता है और "वह" मुझको अपनाने के लिए मुझ से अधिक तत्पर है, प्रभु के इस स्वभाव में जो विश्वास करता है, उसके भीतर जब अपनी त्रुटि दिखाई देती है, तो वह अधीर हो जाता है एकदम। क्यों करें ! इतने दिन हो गए। मैंने बहुत कुछ किया और अभी तक हमारे और उनके बीच की दूरी समाप्त नहीं हुई। जब वह ऐसा अधीर हो जाता है, तब उसके भीतर से सच्ची प्रार्थना उपजती है और तब वह कहता है कि "हे

प्रभु ! मैं तुम्हारी शरण हूँ, मैं तुम्हारा शरणागत हूँ। और हे प्यारे ! अपने को मैं अपने से सुधार नहीं सका। मेरे प्यारे ! मेरे कृपालु ! अब अपनी कृपा से मुझको अपने प्रेम का पात्र बना लेना, अपनी कृपा से मुझको सम्हाल लेना।" ऐसा वह अधीर होकर कहता है। कहना क्यों पड़ता है ? मैंने भी बहुत कहा है। आप भी कहते होंगे। कहने में कोई दोष नहीं है। बिना कहे अपने को सन्तोष नहीं होता। "उनकी" जानकारी के लिए कहना जरूरी नहीं है। वे तो मेरे बिना कहे जानते हैं। क्या कहेंगे आप ? अपने को मैं खुद पूरा नहीं जानती हूँ और वे मेरे जन्मदाता, जीवनदाता, मेरे प्यारे मुझको मुझसे अधिक जानते हैं। किस में मेरा हित होगा, यह सब उनकी दृष्टि में पहले से रहता है।

इसलिए अहं रूपी अणु को गलाकर, उसकी सारी अशुद्धियों को हटा करके परम प्रेमास्पद प्रभु की प्रीति का पात्र बनाने में समर्पण-योग की साधना मुझे बहुत अच्छी लगती है। मैंने तो ऐसा सुना है कि किसी भी पंथ का साधक हो और किसी भी मत का मानने वाला हो, ईश्वर को मानता हो अथवा ब्रह्म को मानता हो, अथवा निज स्वरूप को ही सत्य मानता हो, किसी भी प्रकार से उसने जीवन के सत्य को स्वीकार किया हो, उसकी साधना के क्रम में ऐसी असमर्थता की घड़ी अवश्य आती है। जब वह एक बिन्दु *(Point)* पर पहुँच जाता है, जहाँ पहुँचकर उसको ऐसा अनुभव होता है कि अब मेरे लिए करणीय कुछ नहीं है। जो कुछ करना था मैंने सब कर लिया। यह घड़ी आती है साधकों के जीवन में। और फिर क्या होता है ? कि मैं हूँ और मेरी साधना है। मेरे जानते जितनी थी, वह सब मैंने पूरी कर दी और मेरे लिए करने को अब कुछ बाकी नहीं है। मुझमें मेरे प्रेमास्पद से मिलने की बड़ी उत्कण्ठा है। लेकिन वे हमारे भीतर ही विद्यमान हैं, फिर भी छिपे हुए हैं। तो ऐसी छटपटाहट आरम्भ होती है कि सिवाय समर्पण के और कोई उपाय रह ही नहीं जाता और

अपने आप ही भीतर असमर्थता की वेदना जगती है। असमर्थता की वेदना में "अहं" का अभिमान गल जाता है। अहं के अभिमान के गलते ही अपने में अपना 'वह' जो प्यारा विद्यमान है, उसकी विद्यमानता का अनुभव हो जाता है। वह अनुभव अहं को ऐसा तरल, सरस और मधुर बना देता है कि वह "मैंपन" खो जाता है। फिर प्रेम और प्रेमास्पद, प्रभु और उनकी प्रीति, भगवान् और उनकी भक्ति—इनका अनन्तकाल तक अनन्त प्रेम का आदान-प्रदान चलता रहता है। ऐसा होता है।

माताजी आनन्दमयी की वाणी में मैंने सुना था और अपने महाराजजी की वाणी में भी सुना था। दोनों ने अलग-अलग भाषा का प्रयोग किया। लेकिन एक ही तथ्य का प्रतिपादन किया। माताजी ने कहा—"अहं के गल जाने से जब साधक अहं-शून्य हो जाता है, तो सत्य के स्पर्श का आनन्द उसको आ जाता है।" स्वामीजी महाराज ने कहा—"प्रभु का शरणागत साधक अपनी असमर्थता की वेदना से पीड़ित होकर सर्व-समर्थ की कृपा की आवश्यकता अनुभव करता है, तो असमर्थता की वेदना से उसके अहं का अभिमान गल जाता है और अहं-शून्य होते ही उसको अपने प्यारे की प्रीति का अनुभव हो जाता है अर्थात् वह साधक प्रभु के प्रेम से अभिन्न होकर उनके अनन्त आनन्द में शामिल हो जाता है।" मैंने अपने को समझाने के लिए और अपने आत्मीय जो भाई-बहिन हैं, मेरे प्रभु के प्यारे आप सभी जो यहाँ बैठे हैं उनकी सहायता के लिए ऐसे सोचने-समझने की चेष्टा की, कि आज इस घड़ी हम लोग देख लें कि वर्तमान में हमारी क्या दशा है। तो वर्तमान में दशा यह है कि थोड़ा परमात्मा भी अच्छा लगता है, थोड़ा संसार भी अच्छा लगता है, थोड़ी साधना भी अच्छी लगती है और थोड़ी लोगों के साथ मिल करके तरह-तरह की प्रवृत्ति भी अच्छी लगती है। ऐसी जो हमारी मिली-जुली दशा है, तो ऐसी दशा से हम लोगों ने साधना आरम्भ की। एक सज्जन स्वामीजी से कहने लगे कि महाराजजी! अभी

तो हमारे जीवन में बड़ी अशुद्धि है तो जब अशुद्धि पहले मिटा लूँगा, तब आपके पास आऊँगा। तो महाराजजी ने कहा—"हाँ भैया, बीमार हो तो पहले रोग को मिटा लो, तब अस्पताल आना।"

बड़ा ही विलक्षण जीवन है मनुष्य का ! कि संसार का राग है, प्रेम की प्यास भी है, अपने व्यक्तित्व का एक अभिमान भी है और फिर "उनकी" शरणागति का शौक भी है। साधना नहीं कहूँगी मैं। साधना होती तो सिद्ध हो गई होती। शौक है तो पढ़ने-लिखने के द्वारा, डिग्रियों के द्वारा, समाज की ओर से आने वाले सम्मान के द्वारा आपने ऊँचे आसन पर बैठा दिया, माला पहना दी। आपके इस व्यवहार के द्वारा अहं को पोषित करना भी अपने को सुखद लग रहा है।

यह दशा मैं जानती हूँ और यहाँ से हम लोगों को आगे बढ़ना है। थोड़ा सुख-सम्मान भी अच्छा लगता है और इतने चतुर-चालाक हम लोग हैं कि सुख और सम्मान को बचाए रखना चाहते हैं कि यह खत्म न हो। यह बना रहे तो अच्छा है और दुःख और अपमान से असंग होना चाहते हैं। यह होता ही नहीं है, क्योंकि इसके न होने में ही मेरा हित है। तो विधान ने तो हमको आगे बढ़ाने का इंतजाम किया और हम लोगों ने क्या किया? कि थोड़ा संसार को भी पसन्द करेंगे, थोड़ा-थोड़ा परमात्मा को भी पसन्द करेंगे, तो क्या काम चल जाएगा? सज्जनता के बल पर अपना शृंगार कर लिया और समाज ने उदारतापूर्वक मुझको जो सहयोग दे दिया, उसको मैंने अपना अधिकार मान लिया। और परमात्मा ने मेरे कल्याण के लिए यह परिस्थिति बना दी, यह साज-सज्जा दी, तो इसको मैंने अपनी खुराक बना लिया। इसके साथ-साथ अपने को ईश्वर-विश्वासी कहने का शौक भी रखती हूँ मैं। और जब अपना कोई वश न चले, तो अपने को शरणागत कहने की चतुराई भी करती हूँ मैं। कोई बात नहीं। जिसके हम बच्चे हैं वे बड़े उदार हैं। हमारी इस नादानी से वे नाराज नहीं होते। एक

बार ऐसा ही उद्‌गार जी में आया, तो मैंने कहा—महाराज जी ! हम लोग अपराध करने से नहीं हारते हैं और जब उसके परिणाम में डूबने लगते हैं, जब अपना ही विकार अपने को आगे नहीं बढ़ने देता है, तो हम भ्रमित हो जाते हैं। लेकिन उबारने वाले कभी नहीं थकते। कोई बात नहीं। प्यार करने वाले माता-पिता हमारे मौजूद हैं। मुझको संम्हालने वाले वे मेरे रक्षक सब समय तैयार हैं। उन्हीं के बच्चे तो हम हैं। सजा के, सँवार के, सुन्दर बना के उन्होंने दुनिया में भेजा, कीचड़ में हम गिर गए, काँटों में उलझ गए, चोट लग गई, घाव बन गया, कपड़े गन्दे हो गए। तो भी वे करुणा सागर, वे करुणामयी माँ, हम गिरे-पड़े, गन्दे, रोते हुए, घबराते हुए बच्चे को उठाने में कभी पीछे नहीं हटते।

इसी आश्वासन पर हम लोगों को अपनी वर्तमान दशा में पीछे चाहे कुछ भी हुआ हो—अभी इस वर्तमान क्षण में अपनी सारी त्रुटियों के साथ, अपनी सब कमजोरियों के साथ हृदय की इस अभिलाषा को लेकर कि "प्यारे ! हम तेरे हैं, और तेरे ही होकर रहेंगे। अब अपना कोई वश नहीं चलता, तो मैं तुम्हारी शरण हूँ। अब तुम मुझे सम्हालो।" ऐसा कह करके सचमुच कुछ देर के लिए बिल्कुल शान्त हो जाइए। कुछ मत कीजिए। तो सर्व-समर्थ रक्षक की कृपा-शक्ति हमको सम्हालने लग जाएगी। आप ऐसा अनुभव करेंगे। पर होना चाहिए समर्पण का भाव हमेशा ही के लिए। ऐसा नहीं कि तकलीफ हुई, तो उनकी शरण में आ गए और आराम मिल गया, तो अपने पर अपना अधिकार जमा लिया। ऐसा नहीं।

समर्पण का भाव जब एक बार साधक स्वीकार करता है, तो जीवन भर के लिए होता है, बीच में टूटता नहीं है। वह भाव हमारा बना रहेगा सब समय। इस भाव में हम रहेंगे। थोड़ी-थोड़ी देर विश्राम में रहेंगे, प्रवृत्ति से अलग होकर अकेले। उस समर्पण के भाव में आप ऐसा पाएँगे कि भीतर से बिल्कुल ही निश्चिन्तता, निर्भयता अपने आप प्रकट होने लगती

है। स्वामी जी महाराज ने मुझको बताया— देवकी जी ! अनेकों-अनेकों जन्मों का अभ्यास जो फल नहीं देता है, वह थोड़ी देर के लिए प्रभु की कृपा-शक्ति का आश्रय फल देता है। क्यों ? देखिए, उसमें बड़ा भारी दर्शन भी है कि जब आपने अपनी ओर से सब प्रयास छोड़ दिया, जैसे कि ऑपरेशन के लिए कोई रोगी ऑपरेशन थियेटर में मेज पर लेट गया हो और डॉक्टर ऑपरेशन के लिए खड़ा हो। उस समय रोगी सब प्रकार से डॉक्टर के आगे अपने को छोड़ देता है। इसी प्रकार जन्म-मरण के बीच में पड़ा हुआ साधक डॉक्टर से भी अधिक समर्थ, उससे भी अधिक कृपालु, उससे अधिक चतुर जो परमात्मा है, उसकी शरणागति में अपने को डालने के बाद फिर अपने बारे में कुछ मत सोचें। जब आपने अपने को समर्पित करके छोड़ दिया, तो भीतर में यह पूरा दृढ़ विश्वास रखें कि प्रभु की कृपा-शक्ति मेरे जन्म-जन्मान्तर का मैल धो देगी।

उस समय पुराने जमे हुए विकार निकलने लग जाएँ, तो साधक को डरना नहीं चाहिए, घबराना नहीं चाहिए। उनको रोकने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए। कुछ नहीं, शान्त पड़े रहो। मैं जब स्वामीजी महाराज से शिकायत करती कि महाराज ! ऐसा होता दिख रहा है, ऐसा-ऐसा हो रहा है। तो कहते देवकीजी ! तुमको हँसी उड़ानी चाहिए। तुमको कहना चाहिए कि देखिए महाराज ! आपकी वस्तु का क्या हाल है। अगर तुमने ईमानदारी से तन-मन सर्वस्व उनके समर्पित कर दिया है, अपने सहित, तो विकृत मन तुम्हारा है, कि उनका है ? जी ? उनका है। बाहर इतनी हलचल मच रही है, तब तुमको परेशानी नहीं हो रही है, तो भीतर की हलचल तुम्हारी है क्या ? थी तुम्हारी, पैदा की थी तुमने, लेकिन अभी एक क्षण पहले क्या कहा ?— "सब तुम्हारा"। उनको दे देने के बाद अब वस्तु को वापिस बार-बार माँगती काहे को हो ? कि देखें, तुमने ठीक किया, कि नहीं किया। ऐक्सपैरीमेंट काहे को करती हो ? परीक्षण काहे को करती हो ? तुम से

'वह' कम जानकार है क्या? कि तुम जाँच करके देखोगी कि देखें, मैंने मैला-मैला, गन्दा-गन्दा विकृत मन, चित्त, बुद्धि, अहं परमात्मा को समर्पित किया था, तो देखें, यह कैसा कारीगर है? इसने ठीक से साफ किया कि नहीं किया? उनसे ज्यादा चतुर हो क्या? उनसे ज्यादा समर्थ हो क्या? अगर उनसे ज्यादा समर्थ हम लोग होते, तो उनकी शरणागति लेने की कौन-सी बात थी? वे सर्व समर्थ हैं, सब कुछ जानते हैं, सब कुछ कर सकते हैं। वे सब कुछ करते हैं।

इसलिए मैं कहती हूँ कि जीवन के वे क्षण बड़े शुभ थे मेरे। अब आगे भी वे क्षण बड़े शुभ होंगे कि जिन क्षणों में मुझे ऐसा लगेगा कि हाय! मेरे किए कुछ हुआ नहीं और तुम्हारे बिना रहा जाता नहीं। इस प्रकार की फीलिंग जिस क्षण में उत्पन्न हो, वह क्षण हम लोगों के लिए बड़ा ही शुभ है। आपकी वह पीड़ा दुःखहारी हरि से सहन नहीं होती। नहीं सह सकते वे।

लंका में हनुमान गए थे। लौट करके आए वहाँ से, तो समाचार सुना रहे हैं। राघवेन्द्र सरकार पूछ रहे हैं—हे पवन-सुत! मुझे बताओ तो कि जनकनन्दिनी वहाँ उस कैद में कैसे रह रही हैं? तो हनुमानजी सुना रहे हैं। कुछ-कुछ उन्होंने सुनाया और सुनाने में उनको इतनी पीड़ा होने लगी, माँ की वेदना को याद करके कि कहते हैं—हे प्रभु! मैं क्या कहूँ, "सीता पर अतिविपति विशाला, बिनु ही कहे भलि दीन दयाला।" नहीं कहना ही अच्छा है महाराज! मैं उस कराल विपत्ति को क्या सुनाऊँ? तो राघवेन्द्र सुनकर के और भी अधिक अधीर हो गए। कहते हैं—हे हनुमान! जिसको दिन-रात मेरा ही आश्रय है, जो मेरे ही चिन्तन में लगा है, जो मेरा ही होकर रहता है, एक क्षण के लिए भी जो मुझको भूलता नहीं है, उसको विपत्ति हो! यह बात मैं कैसे समझूँ? तो हनुमानजी ने झट से समझ लिया। तो कहते हैं— नहीं-नहीं-नहीं, महाराज! विपत्ति-विपत्ति

कुछ नहीं है सरकार। विपत्ति तो उसको है, जो आपका नाम भूल जाए। माँ को विपत्ति कुछ नहीं है। "नाम पाहरू दिवस-निशि, ध्यान तुम्हार कपाट। लोचन, निज पद यंत्रित, प्राण जाहिं केहि बाट।" नहीं, नहीं, नहीं। माँ को कुछ नहीं होगा। कोई विपत्ति नहीं है। विपत्ति तो तब है, जब आपको भूल जाएँ। नहीं है, विपत्ति नहीं है। विपत्ति कुछ नहीं है।

मैंने तो अनुभव करके देखा है और यह मैं अपनी बहादुरी नहीं कह रही हूँ। यह मैं अपनी नालायकी कह रही हूँ कि कठिन-से-कठिन साधना की, संकट की घड़ी मेरे सामने आई। संकट की घड़ी क्या कहलाती है? कि मन से किसी विकार को छोड़ना चाहो और ऐसा लगे कि उसमें हम जकड़े हुए हैं छूट नहीं रहा है। तो इससे बड़ा संकट और क्या होगा? तो ऐसे संकट काल में मैंने क्या पाया कि मेरी नालायकी थी कि संकटहारी हरि को याद नहीं किया। पुरानी आदत जो ऐंठ की थी न! कि हम याद करें और तुम सुनो नहीं, तो हम काहे के लिए याद करें? रखो तुम अपनी कृपालुता अपने संग। तो मैंने याद नहीं किया। स्वभाव से याद नहीं आता था। लेकिन वह संकट जो मुझसे टाला नहीं जाता था, उसमें मेरी जो छटपटाहट होती थी। तो मेरे याद किए बिना, सहायता माँगे बिना, बुलाए बिना भी उन करुणासागर से सहन नहीं हुआ।

स्वामीजी महाराज ने मुझको कहा था कि देवकीजी! जब साधक अपनी ओर से हार जाता है, तो करुणामय की करुणा का दरवाजा खुलता है। तो भी मैंने सहज से नहीं माना। हमने कहा कि इन महात्मा का नाम है "शरणानन्द"। ये तो भगवान के भक्त हैं। प्रभु के भक्त होने के नाते इनके लिए दरवाजा खुल जाता होगा। मैं तो भक्त हूँ नहीं। मुझको तो कुछ खास बात मालूम नहीं होती है। क्या जानें! मेरे लिए जब खुले, तब मैं जानूँ। तो इस प्रकार की अधूरी भावना, इस प्रकार का शंकालु स्वभाव

लेकर मैंने चेष्टा की कि अपने को सम्हालूँ। उन्होंने प्रण किया होगा कि तेरे बल पर तुझको सम्हलने नहीं दूँगा। तो तेरे बल पर मेरा सुधार नहीं हुआ। और जिन-जिन क्षणों में मैंने अपने को हारा हुआ माना, उन्हीं क्षणों में करुणासागर की करुणा का दरवाजा खुला और जब मेरा उबार हो गया, जब मैंने अपने को हल्का पाया, जब संकट के पार पाया, तो कब कैसे क्या हो गया—कुछ पता नहीं चला। तब भी मुझे ध्यान में नहीं आता था कि सन्त की कृपा ने, प्रभु की कृपा ने मुझको सम्हाल लिया होगा। तब भी मैं थोड़ी देर के लिए इधर-उधर देखती-सोचती कि अच्छा, यह कैसे ठीक-ठाक हो गया! थोड़ी देर के बाद ध्यान में आता। स्वामीजी महाराज ने कहा था कि "साधक जब अपनी ओर से हारता है, तो करुणासागर करुणा करते हैं। साधक जब साधना के पथ में अपने विचारों में उलझ करके दुःखी होता है, तब उसका दुःख दुःखहारी हरि से सहन नहीं होता है।"

प्रवचन 12

उपस्थित महानुभाव, सत्संग प्रेमी माताओ, बहिनो और भाइयो !

हम सब लोग भक्ति-पंथ की साधना की चर्चा सुन रहे थे। ईश्वर-विश्वास की दृष्टि से जिन्होंने अपने जीवन को सार्थक बनाना पसन्द किया, उनके लिए सबसे पहली बात होती है कि बिना देखे, बिना जाने परमात्मा की सत्ता को स्वीकार करें। परमात्मा हैं—इस बात में हम लोगों को निःसन्देह रहना चाहिए। नहीं दिखाई देने पर भी 'वे' हैं। पता नहीं है मुझे, हम अनजान हैं उनसे, तब भी वे हैं।

तो उनका 'होना' स्वीकार करना एक अनिवार्य बात है। यह स्वीकृति अपने द्वारा की जाती है। इसमें मन, चित्त, बुद्धि, संगी-साथी की आवश्यकता नहीं रहती। स्वयं ही आदमी इस बात को स्वीकार करता है। उस अविनाशी परमात्मा की सत्ता को स्वीकार करने के बाद, एक दूसरी बात भी आती है कि उनकी महिमा को भी हम स्वीकार करें। कैसे करें? सन्तों की वाणी के आधार पर, गुरु की वाणी के आधार पर, ग्रन्थों में लिखा हुआ है, इसलिए उनकी महिमा को स्वीकार करें। सत्ता की स्वीकृति हो गई, महिमा की स्वीकृति हो गई। तीसरी बात जो बहुत अच्छी है और प्रभावकारी है, वह है—परमात्मा के साथ हमारा-आपका नित्य सम्बन्ध है, आत्मीय सम्बन्ध है—इस बात को भी हम स्वीकार करें।

मैंने जीवन के अध्ययन में जो देखा उससे मुझे पता चला कि परमात्मा की सत्ता को स्वीकार करना कोई बहुत मुश्किल काम नहीं होता है। साधारणतः मनुष्य इस बात का अनुभव करता ही है कि भाई, मैंने अपने को स्वयं नहीं बनाया और मेरे जीवन की गतिविधियाँ मेरे द्वारा नियन्त्रित नहीं हो रही हैं। ऐसा लग रहा है कि जैसे कोई पहले की बनी-बनाई बात रखी हो और उसके अनुसार सब चल रहा हो। तो अपने

को स्वयं अपन ने नहीं बनाया, अपने जीवन की गतिविधियाँ अपने नियन्त्रण में नहीं हैं। तो जरूर कोई है, जिसने मुझे बनाया और मेरे जीवन की गतिविधियों को नियन्त्रित कर रखा है। इसलिए उनकी सत्ता को स्वीकार करने में ज्यादा कठिनाई नहीं होती है। ऐसा एक बना ही हुआ है जीवन का क्रम कि उस अदृश्य अनजानी सत्ता को हम लोग मान ही लेते हैं। लेकिन बहुत बढ़िया बात होती है जब मनुष्य के भीतर उस परम सत्ता के लिए, उस सर्व-उत्पत्ति के आधार के लिए "अपनेपन" का भाव जग जाए, "उनको" अपना मानने की भावना अपने में भर जाए। आवश्यकता तो है। आवश्यकता सभी में है और सभी उसका अनुभव करते हैं, परन्तु जड़ता के प्रभाव से हम दुनिया के व्यक्तियों और वस्तुओं से अपना सम्बन्ध जोड़ कर सन्तुष्ट होना चाहते हैं। यह मूल भूल होती है और जब भीतर से चेतना जगती है, संसार की नश्वरता का प्रभाव अपने पर पड़ता है, तब व्यक्ति खोजता है कि कौन है अपना कहने के लायक, कौन है अपना होकर रहने के लायक? किससे अपना सम्बन्ध सदा के लिए निभ सकता है? किससे सम्बन्ध मानना मुझे सब प्रकार से स्वाधीन कर सकता है?

ऐसे प्रश्न होते हैं और सन्तजन, भक्तजन सलाह दे देते हैं कि भाई, ऐसा मानो कि परमात्मा हैं और वे सभी के अपने हैं, सभी को अपना मानते हैं, अनन्त माधुर्यवान हैं, यह उनकी महिमा है। इसका अर्थ यह है कि वे सभी को अपना करके जानते हैं और अपना कर रखते हैं। यह बात सन्तजनों के द्वारा, भक्तजनों के द्वारा हम लोगों को बता दी जाती है। इसी को भक्ति का मूल आधार मानना चाहिए। यह नित्य तत्त्व विद्यमान ही है। उसी की सत्ता से हम लोगों को अपनी स्वतन्त्र सत्ता का भास होता है। शरीर को लेकर संसार के सम्पर्क में अनेकों प्रकार की पराधीनताओं के होते हुए भी जब बिल्कुल अकेले हो करके आप अपने को देखिए, अपने सम्बन्ध में सोचिए, तो ऐसा लगता है कि 'मैं हूँ'। मेरा होनापन

बिल्कुल स्वतन्त्र रूप से अपने को भासित होता रहता है। अपनी स्वतन्त्र सत्ता का भास होता है कि 'मैं हूँ'। स्वामीजी महाराज कहते हैं कि जो अपनी सत्ता का अनुभव करता है कि 'मैं हूँ' और जो अपने अस्तित्व को इन्कार नहीं कर सकता, वह उसको कैसे इन्कार कर सकता है, जिसमें से इस "मैं" की उत्पत्ति हुई है? इसलिए वह सत्ता है, ऐसा मानना प्रारम्भिक बात हो गई और भक्त होने के लिए अनिवार्य बात क्या हो गई कि उस सत्ता के साथ मेरा अपना नित्य-सम्बन्ध है, आत्मीय-सम्बन्ध है—इस बात को भी माना जाए।

मेरे सामने जब ऐसा प्रश्न आया कि "उसको" मानना पड़ेगा बिना देखे, बिना जाने, तो मुझे ऐसा लगा जैसे कि अथाह सागर में खोये हुए को सहारा पकड़ाया जा रहा है। फिर मैं सोचती थी कि असंख्य-असंख्य शरीरधारी संसार में प्रतिदिन प्रत्येक क्षण पैदा हो रहे हैं और मिट रहे हैं। उसी में से एक यह मैं भी हूँ। बन गया है, बिगड़ रहा है, मिट जाएगा। हमारी तरह कितने हैं, पता नहीं। इसकी गणना नहीं हो सकती। तो मैं सोच ही नहीं पाती थी कि वह अनन्त परमात्मा, जो सर्व-उत्पत्ति का आधार है, हमारे जैसे असंख्य-असंख्य शरीरधारियों को प्रत्येक क्षण बना रहा है, मिटा रहा है, उसको मेरी भी कुछ परवाह होगी। भगवत्-अनुरागी सन्त के पास बैठकर सुनते-सुनते, समझते-समझते, जीवन की आवश्यकता को सामने रखते-रखते बहुत देर में यह बात मेरी पकड़ में आई कि वे इतने सामर्थ्यवान हैं कि असंख्य-असंख्य शरीरधारियों के निर्माता और पालनकर्त्ता होते हुए भी वे हर एक का ध्यान रखते हैं। हर एक की सुध लेते हैं, हर एक के बारे में जानते हैं, हर एक पर कृपा करते हैं। वे इतने प्रेमी स्वभाव के हैं, इतने सामर्थ्यवान हैं कि वे बना कर छोड़ नहीं देते। यह उनकी महिमा की स्वीकृति हुई। और मैं रूठी रहती थी इस ख्याल से कि *Where is God ? Perhaps He has gone to sleep never*

to be awakened. सुना देती थी, अगर कोई उनकी महिमा गाए तो। कहाँ है परमात्मा? जाकर के निश्चिन्तता में परम विश्राम ले रहा है और दुनिया में हमारे जैसे जीव सुख-दुःख में ऊब-डूब हो रहे हैं। द्वन्द्व में फँसे हुए हैं। उनको क्या परवाह है? लेकिन बात ऐसी नहीं है। भक्त होने के लिए भक्ति तत्त्व का जो बीजरूप है वह उन्होंने हम सभी भाई-बहिनों को दे करके भेजा है। अपना मानने का स्वभाव मनुष्य का है। किसी को अपना मानो तो अच्छा लगता है और कोई तुमको अपना माने तो और भी अच्छा लगता है। अपनी जिम्मेदारी कुछ कम हो गई। दोनों ही बातें हम लोगों को अच्छी लगती हैं।

यह अपनेपन की बात जो है, यह मनुष्य के जीवन में मूलरूप से विद्यमान है। भूल क्या होती है कि सचमुच जो अपना है और जिसका अपनापन सदा के लिए निभ सकता है, जो सदा-सदा के लिए अपना होकर रह सकता है, उसको हम भूल गए। यही भूल हो गई। और कोई बात नहीं है। और, एक दूसरी बात मुझे सूझती है कि यह परमात्मा ही है जिसका अपनापन हर प्रकार से मेरे को भरपूर कर सकता है। जब मैं कहती हूँ कि भरपूर कर सकता है, तो इसका अर्थ यह मत सोचियेगा कि अन्न से, धन से, वस्त्र से, सबसे भरपूर कर सकता है। ये सब चीजें आपको भरपूर नहीं कर सकती हैं। अन्न, वस्त्र, सामान, मकान—इनकी हस्ती तो शरीर की सीमा तक रह जाती है। अपने ही भीतर जो वास्तविक जीवन तत्त्व है, वही अपने को भरपूर करता है। परमात्मा में ही यह सामर्थ्य है कि जब कोई व्यक्ति देखे हुए सुहावने, लुभावने संसार को इन्कार करके उस बिना देखे को अपना मानना पसन्द करता है, तो उसकी एक बहादुरी पर वे सर्वसामर्थ्यवान रीझ जाते हैं। यह एक बढ़िया बात है।

समग्र उत्पत्ति के मूल में कोई अनुत्पन्न तत्त्व है—इतना मान लेने से आदमी आस्तिक हो जाता है। सत्ता की स्वीकृति हो गई। लेकिन भक्त

होने के लिए उस बिना देखे, बिना जाने को अपना माने और उसके अपनेपन पर सारे दूसरे सम्बन्धों, सब विश्वासों को न्यौछावर कर दे। बस इतनी बहादुरी अपनी चाहिए, इससे ज्यादा और कुछ नहीं चाहिए। यह नहीं कर पाते हैं, तो मामला अटक जाता है।

स्वामीजी महाराज कहते हैं कि कोई लड़की हो और उससे कहा जाए कि वह बड़ा सुन्दर है, परम सुन्दर है, बड़ा ऐश्वर्यवान है, उस पर कोई विजयी नहीं हो सकता, उसमें बहुत ऐश्वर्य है, उसमें बड़ी सामर्थ्य है, वह सब कुछ कर सकता है और वह बड़ा प्रेमी है। जो उसको अपना मानेगा, उसको सब प्रकार से भरपूर कर देगा। तो ऐसा अगर कोई हो और किसी लड़की से कहा जाए कि उससे सम्बन्ध करोगी? तो कौन नहीं राजी होगी? बड़ा अच्छा लगेगा। ऐसा कोई हो तो सही। हो तो हम मान लें उसको। अपना बना लें उसको। तो यहाँ तक तो कोई दिक्कत नहीं होती। इसमें तो सबका जी एकदम ललक उठता है। वह अनन्त सौन्दर्यवान, अनन्त माधुर्यवान, अनन्त ऐश्वर्यवान, प्रेम स्वरूप है, तो कौन नहीं उससे सम्बन्ध बनाने को राजी होगा? लेकिन उसकी सजीवता के लिए जब कहा जाता है कि उसके साथ एक काम तुमको और करना पड़ेगा कि उसके अतिरिक्त फिर और किसी को अपना मत मानना। तो बस, ठहर जाता है आदमी। अच्छा, भगवान्! आप बड़े सुन्दर हैं। आपके भक्तों ने बता दिया मुझे। आप बड़े माधुर्यवान हैं। यह मैंने सुन लिया और सचमुच मुझको जन्म से ही मधुर प्रेम रस की प्यास भी है। यह सब कह-सुन करके आदमी कहता है कि अच्छा भगवान्, थोड़ा ठहर जाइए। अभी दूसरे-दूसरे जो सम्बन्धी हमारे हैं, बड़े अनुकूल हैं, बड़ा प्यार देते हैं, बड़ी रक्षा करते हैं, बहुत मीठा बोलते हैं, बड़ा सम्मान देते हैं, तो मैं उनके संयोग का सुख थोड़ा ले लूँ। पीछे आपके पास आऊँगा। तो बस, हो गई भक्ति खण्डित। वे तो अपने आप में सब प्रकार से पूर्ण हैं। हमारे

भक्त न होने से उनके अपने आनन्दस्वरूप में कोई क्षति नहीं होती। उनके अपने प्रेमसागर में कोई लहर घटती नहीं है। वह कहते हैं कि अच्छा मेरे बच्चे ! तुमको यही पसन्द है, तो जाओ, थोड़े दिन और खेल-कूद के आना।

एक सज्जन मेरे पास आए। ब्यावर एक नगर है राजस्थान में। वहाँ मानव सेवा संघ की शाखा का समारोह हो रहा था। तो भवन में मैं बैठी थी और बहुत तरह के श्रोतागण बैठे थे। बात हो रही थी। एक व्यक्ति बीच में आए। सीधे मंच के पास आ गए, आकर के कहने लगे कि बहनजी ! मेरा एक प्रश्न है, उत्तर दीजिए। मैंने कहा कि भाईजी ! सुनाइए, क्या प्रश्न है आपका? तो उन्होंने कहा कि भगवान् से जल्दी-से-जल्दी मिलने का कौन-सा तरीका होगा? बता दीजिए। तो जो सन्तों से मैंने सुना है, जो भक्तों से मैंने सुना है, उसमें से चुन-चुन करके दो-चार मुख्य-मुख्य बातें मैंने उनको बता दीं कि भाई, मैंने सन्तों से, भक्तों से ऐसा सुना है कि ऐसा करने से भगवान् मिलते हैं। तो बस, उत्तर सुन लिया। अपनी छड़ी उठाई, थैला उठाया और बड़ी ही गम्भीर मुख-मुद्रा में वे सज्जन जाने लगे। सब लोग उनका प्रश्न सुन रहे थे और मेरा उत्तर भी सुन रहे थे। मैंने बीच में से उनको पुकारा। हमने कहा— भाईजी ! आपके प्रश्न का उत्तर हो गया? तो मेरी तरफ मुड़ करके कहने लगे कि हाँ बहिनजी, उत्तर तो मुझे मिल गया। लेकिन अब मैं सोचता हूँ कि भगवान् से कुछ दिनों बाद मिलूँगा। इस सज्जन ने बड़ी सच्चाई के साथ अपनी दशा के अनुसार मेरे प्रश्न का उत्तर दे दिया। सुन करके हँसी आती है। वहाँ बैठे सब लोग सुन करके हँसने लगे। लेकिन उस सज्जन पर लोगों के हँसने-हँसाने का कोई प्रभाव नहीं हुआ। वे ऐसी ही गम्भीर मुख-मुद्रा से उत्तर देकर चले गए।

घबड़ाने की बात नहीं है। आप डरियेगा नहीं। ऐसा मत सोचियेगा कि भक्ति-पथ पर मैंने कदम रखा है और उसके लिए जितना होना चाहिए वह सब मैंने नहीं किया, तो भक्तों की सूची में से नाम कट जाएगा। ऐसा

नहीं होगा। अगर ऊपरी-ऊपरी काम करते रहे, भीतर-भीतर कुछ रूप दूसरा बना रहे, तो बहुत देर लग जाएगी। और एक बात है कि रास्ते की बाधाओं का पता चले, तो उन बाधाओं को हटा करके उस प्रेमस्वरूप, उस आनन्दस्वरूप से जल्दी-से-जल्दी मिल जाएँ। इतना ही फर्क होगा। किसी भी रूप में कुछ भी आज इस दशा में प्रयास कर रहे हैं, तो किया हुआ साधन कभी नष्ट नहीं होता है। इस पथ पर चलने वाला कभी हारता नहीं है। इसलिए डरने की बात नहीं है। लेकिन मैं इस बात का उल्लेख करना चाहती हूँ कि कहाँ पर रुकावट है? सचमुच भक्ति का रस जो अपने में से ही उद्‌भूत होना चाहिए था, उसके अभाव में हम बाहर-बाहर उपाय खोजते फिर रहे हैं। इस बात को मैं आपके ध्यान में लाना चाहती हूँ। इसलिए निवेदन किया कि अपना मानना बहुत बड़ी बात है और मान करके भी हमारे भीतर उसकी प्रियता के फलस्वरूप उनकी याद नहीं आती है, तो अपनी इस दशा को सामने रखना। उस दशा को मिटाने के लिए अपनी ओर से जो प्रयास बने सो करना और कोई प्रयास न बन सके—ऐसा भी होता है कि साधक को सूझता ही नहीं है कि मुझ में क्या कमी है—तो उस समय भी उनकी प्रियता के उदित न होने का दुःख अपने भीतर भर जाए, तो उससे भी बड़ा कल्याण होता है। बात वहीं आ जाती है। बहुत अच्छी बात है। दुःख भर जाएगा तो क्या होगा? साधक ऐसा सोचने लगता है। हाय, मेरे किए कुछ हुआ नहीं। इतने दिन मैंने जप किया, इतने दिन तप किया, इतने दिन ऐसा किया। कुछ काम बना नहीं।

इलाहाबाद में एक बूढ़ी माँ आती थी। स्वामीजी महाराज से भी उम्र में बड़ी रही होगी। काफी बूढ़ी थी। स्वामीजी महाराज के पास बैठ करके, जैसे माताएँ बच्चे की पीठ पर हाथ फेरती हैं, वैसे ही स्वामीजी की पीठ पर हाथ फेरती जाएँ और कहती जाएँ कि महाराज, अब तो तुम्हीं सम्हालो। हे महाराज! अब तो तुम्हीं सम्हालो। स्वामीजी महाराज हँसते

जाएँ और पूछते जाएँ माँ ! क्या कह रही हो ? क्या है माँ ? तो महाराज ! मैंने इतने वर्ष ऐसा किया, अभी तक हमारा काम नहीं बना। महाराज ! सम्हालो अब तुम्हीं सम्हालो।

सच्चे साधक जो होते हैं वे अपने जीवन के सूनेपन को सहन नहीं कर सकते हैं। सहन नहीं होता है तो अधीर हो जाते हैं, दु:खी हो जाते हैं। उस समय उनका अहं गलने लगता है। जिस समय आपको ऐसा लगे कि मेरी साधना तो बहुत अच्छी चल रही है, मेरा प्रयास सफल हो रहा है। ऐसा भासित जब हो, तो उस काल में अहं थोड़ा और सबल हो जाता है। अशुद्ध नहीं, विकारों से घिरा हुआ नहीं। साधना के बल के आधार पर भी अहं पोषित होता है। उसमें भी थोड़ी दूरी रह जाती है। लेकिन जिस समय अपनी ही असमर्थता से साधक अत्यन्त व्याकुल हो जाता है—क्या बताएँ ! अन्य सम्बन्ध मुझसे छोड़े नहीं जाते, अन्य सहारे मुझसे छोड़े नहीं जाते—इस आधार पर भी आप अधीर हो जाएँ तो उस काल में अहं गलता है। और अहं गलते ही उसका अहं-भाव मिट जाता है और तत्काल, उसी क्षण, उसी जगह अपने परम प्रेमास्पद के अत्यन्त निकट होने का आनन्द साधक में भर जाता है। ऐसा होता है।

एक साधक थे स्वामीजी महाराज के पास। वे बहुत ही अनुकूल परिस्थिति वाले थे। ब्रिटिश गवर्नमेन्ट के जमाने के आई० सी० एस० ऑफीसर थे। बेटे-बेटी सब अनुकूल थे। जब स्वामीजी महाराज के सत्संग में आ करके उन्होंने सुना कि मानव-जीवन का सबसे बढ़िया सुन्दरतम चित्र है कि वह भगवत्-भक्त हो जाए। तो सुन्दर हृदय था उनका, शुद्ध हृदय के व्यक्ति थे, स्नेही स्वभाव भी था। प्रभु की शरणागति को उन्होंने स्वीकार कर लिया। स्वामीजी महाराज की सलाह से और चलने लगे। तो जब-जब यह प्रश्न उनके सामने आवे कि अन्य सम्बन्धों को अस्वीकार कर दो और अनेक सम्बन्ध एक सम्बन्ध में विलीन कर दो, अनेक विश्वास

एक विश्वास में विलीन कर दो, तो वे समझदार व्यक्ति थे ही, कुटुम्ब-परिवार की अनुकूलता का बड़ा प्रभाव था उन पर। तो अधीर होकर स्वामीजी महाराज से बोले— महाराजजी ! लड़के बड़े अच्छे लगते हैं। हाय, मेरा उद्धार कैसे होगा? इनका सम्बन्ध मैं तोड़ नहीं सकता। महाराजजी ! बहुएँ बड़ी सेवा करती हैं, माँ के समान लगती हैं। इनका सहारा मैं छोड़ नहीं सकता। हरि-आश्रय मेरा सिद्ध कैसे होगा? अधीर होते। उन सज्जन की बात है, सन्त की भक्ति उनमें थी। उन्होंने प्रभु की महिमा को भी स्वीकार किया था और वे अपनी दुर्बलता से बहुत पीड़ित रहते थे। वे ही सज्जन आखिरी घड़ी में, मरने से तीन-चार घण्टे पहले खूब आनन्दित होकर कहने लगे—भगवत् अनुरागी सन्त ने मुझे विश्वास दिलाया था, आज वह मेरा सिद्ध हो गया। अब मैं मुक्त हूँ, मैं मुक्त हूँ। मेरा जन्म नहीं होगा। अब मुझे कोई दु:ख नहीं है।

वे ही बेटे बेटियाँ, वे ही बहुएँ और दामाद व बच्चे, उन सबको बुला कर कहा—सब मुझे छोड़कर चले जाओ। इस कमरे में अब कोई मत आना, सब चले जाओ। जाकर के रसोई बनाओ, खाओ, आनन्द मनाओ। मेरा जीवन सफल हो गया। सन्त ने मुझे विश्वास दिलाया था, उस समय मुझे धीरज नहीं होता था। अब सन्त की वाणी सत्य हो गई। अब मैंने जीवन पा लिया। अब मैंने जीवन पा लिया। अब सब चले जाओ। यहाँ कोई मत रहना। मेरे पास कोई मत आना, हो गया कल्याण।

अपनी असमर्थता की वेदना व्यक्ति के अहं को गला देती है। उतना ही भर पर्दा है, उतनी ही भर दूरी है। अहं के गलते ही उनके नित्य निरन्तर विद्यमान होने का जो सहज स्वाभाविक प्रभाव होना चाहिए, उस प्रभाव से भक्ति-पथ का साधक भर जाता है। जैसे महाराजजी ने अभी सुनाया हम लोगों को कि अगर भक्त प्रभु के दर्शन में लग गया, भीतर से अहं गला, तो इष्ट के विद्यमान होने का दर्शन होने लगा। वह विविध

रूप में होता है। हर साधक के लिए अनेक-अनेक ढंग से होता है। वे कहते हैं कि इतनी ग्राहकता होती है उसमें और इतना प्रभाव होता है उसके इष्ट के दर्शन में कि अगर दर्शन होने लगा, तो बाकी सब इन्द्रियाँ और मन, चित्त, बुद्धि सब शक्तियाँ उसी में समाहित हो जाती हैं। अर्थात् उसमें इतना आकर्षण है कि सारी वृत्तियाँ जब जा करके उसमें केन्द्रित हो जाती हैं, तो न कान सुन सकते हैं, न हाथ-पाँव चल सकते हैं, न स्पर्श का ही कोई पता होता है, न गंध का कोई असर होता है। दूसरा कहीं कुछ होता ही नहीं है। अगर उनकी ध्वनि सुनने लग जाओ, तो उस प्रियता में तुम्हारा सम्पूर्ण व्यक्तित्व ऐसा डूब जाएगा कि ध्वनि के अतिरिक्त और कुछ सुनाई ही नहीं देगा और कुछ दिखाई ही नहीं देगा और कोई अपना अस्तित्व ही अलग नहीं रहेगा।

मुझे याद आता है, महाराजजी ने गोपी-प्रेम के सम्बन्ध में एक बार एक प्रसंग सुनाया था। तो उसमें यह सुनाया था कि संध्या होते ही जैसे ही गोधूलि का समय होता, तो सब स्त्री-पुरुष, बच्चे, सयाने, लड़कियाँ, माताएँ सबके सब घर का सब काम-काज छोड़ जल्दी-जल्दी आ करके सब लोग दरवाजे-दरवाजे लग जाते, खड़े हो जाते, कि भाई, अब आ रहा होगा कन्हैया, आ रहा होगा। तो भाव में दर्शन हो रहे हैं। धूलि से भरा हुआ मुखड़ा है, अलकें लटक रही हैं और ऐसी चितवन है और ऐसी बंशी की ध्वनि सुनाता हुआ आ रहा होगा और इस प्रकार की मटकीली चाल चल रहा होगा और उसके सखा उसके साथ आ रहे होंगे। तो सोच-सोच करके गाँव के स्त्री-पुरुष सब भावमग्न हो करके दरवाजे-दरवाजे लग जाते, खड़े हो जाते। किसी को कुछ ध्यान ही नहीं रहता। कोई गोपी बच्चे को दूध पिला रही होती तो वहीं पर उसको छोड़ करके आँगन में आकर बाहर दरवाजे पर खड़ी हो जाती। कोई रोटी बना रही होती तो वहीं तवे पर छोड़ करके आकर के बाहर खड़ी हो जाती। जैसे ही गोधूलि का समय हुआ और अन्दाज लग रहा है कि अब आ रहे होंगे तो कहीं आ करके

निकल न जाए और हम सब उस रूप-माधुरी के दर्शन से वंचित न रह जाएँ— इस डर के मारे चाव से सब आ करके खड़े हो जाते। महाराजजी कहते कि नई-नई बहुएँ जब दूसरे-दूसरे गाँव से ब्याह करके ब्रज गोपों के घर में आवें, तो बहुओं को बड़ा आश्चर्य लगे। वे कहें कि इस नगर में सब पगले रहते हैं क्या? बाबा यह कैसा नगर है? कोई तवे पर रोटी जलती छोड़ करके भाग रही है, कोई गऊ को छोड़कर खिड़की पर भाग रही है। जो जहाँ है सब काम छोड़ करके सब भाग करके खड़े हो जाते हैं।

एक दिन एक कोई नई बहू घर में बैठी थी। गोधूलि का समय था, दीपक जलाने का समय था। घर की लड़कियाँ, स्त्रियाँ सब भाग-भाग करके बाहर निकल रही हैं, तो वह हँसे और कहे कि तुम लोगों को क्या होता है बाबा? कहाँ भाग कर जा रही हो? क्या हो गया? अरे, आ रहा है वन से गायें चरा के, तो वह आएगा ही। उसमें क्या है? रोज तो देखती हो। क्या बात है? ऐसे कहके वह अपनी ननद को डाँट रही थी और पूछ रही थी कि तुम लोगों को क्या होता है? कैसे ऐसा करती हो? तो उसकी ननद ने कहा—अरे, अभी तुम पर वह जादू लगा नहीं है। लग जाएगा तब देखना। तुम भी हमारी तरह हो जाओगी। बहू हँसे। खैर, सास-ननद सब निकल गईं बाहर। रह गई घर में बहू। तो दियासलाई जला करके दीपक लिए बैठी थी। जैसे ही उसने दीपक जलाया कि इतने में कन्हैया रास्ते में नजदीक आ गए थे और उनकी बंशी की ध्वनि सुनाई दे गयी। तो यह नई बहू जो हँस रही थी दूसरों पर, उसके कान में वह बंशी की ध्वनि पड़ गई। वह इतनी मधुर लगी कि उसके सम्पूर्ण अहं की सारी वृत्तियाँ उस ध्वनि को सुनने में लग गयीं। तो ऐसा प्रसंग आता है कि वह दियासलाई जो उसने दीपक के लिए लगाई उसके हाथ में ही रह गई और उससे उसकी अँगुलियाँ जल गईं। लेकिन वृत्ति तो वहाँ है नहीं। उसको पता ही नहीं चल रहा है कि अँगुलियाँ जल गईं। सुन रही है एकदम तन, मन, सब उसमें लगा करके, तल्लीन हो करके। उसको पता

ही नहीं चला। कन्हैया आए और अपनी मोहिनी डालते हुए अपनी प्रीति भरी चितवन से सबको निहाल करते हुए निकल गए, चले गए। उनके चले जाने के बाद लौट-लौट कर सब घर में आए। ननद उसकी आई तो देखा कि इसकी तो अँगुली जल रही है। ननद चिल्लाने लगी कि ये क्या कर रही हो? अरे उठो, उठो। तो उसके मुख से केवल इतनी-सी बात सुनाई दी, अरे कहाँ बजी रे, अरे कहाँ बजी रे। बंशी की ध्वनि कान में घुस गई थी, तो अब और कुछ पता ही नहीं चल रहा है, केवल इतना पूछा कि अरे, कहाँ बजी रे? देखा तो नहीं था उसने। केवल ध्वनि सुनी थी। दूसरे-दूसरे गाँव से लड़कियाँ ब्याह करके नई-नई बहू ब्रज में आ रही हैं। वे भी उस रंग में रँग रही हैं। वे भी उस ध्वनि में विलीन हो रही हैं।

स्वामीजी महाराज ने बड़े साफ शब्दों में कहा कि इष्ट का दर्शन इतना मधुर होता है कि दर्शन हो गया तो सर्वेन्द्रियों की शक्तियाँ आँख में विलीन हो गईं। अब न कुछ सुनाई दे रहा है, न हाथ-पाँव चलेंगे, न कुछ होगा। अगर ध्वनि कान में पड़ी तो सब शक्तियाँ मिल करके कान में ही घुस गईं। अब न कुछ दिखाई देता है, न जलना, न ठण्डा, न गरम, कुछ अनुभव ही नहीं हो रहा है। तो वह जो हमारा-आपका उद्‌गम है, सच पूछिये तो उससे विमुखता के काल में ही हम लोग पीड़ित रहते हैं। मैंने जीवन में जो नीरसता का प्रभाव होता है, उसके परिणाम का बड़ा अध्ययन किया है। अपना तो एक सीमित व्यक्तित्व का सीमित अध्ययन होता है। जिस विज्ञान का अध्ययन किया मैंने उस वैज्ञानिक अध्ययन में मनुष्य के जीवन की नीरसता और सरसता का बड़ा विवरण है। तो वहाँ मैंने जो कुछ मनुष्य का चित्र था, उसे देखा। वह तो मुझको बहुत ही असन्तोष देने वाला हुआ। बहुत असन्तुष्ट हो करके मैं वहाँ से आई। अध्ययन खत्म हो गया और परीक्षा का परिणाम बहुत अच्छा मिला। विद्यार्थी जगत् में खूब जय-जयकार भी हो गई। लेकिन मेरे भीतर का असन्तोष नहीं मिटा।

जब स्वामीजी महाराज के पास मैं आई, तब उन्होंने मनुष्य के सच्चे चित्र को मेरे सामने रखा। तब मैं बहुत आनन्दित हो गई। अब मैं बहुत प्रसन्न हूँ, इस बात से कि बनाने वाले परमात्मा ने आपको इतना बढ़िया बनाया है कि जड़-जगत् का कोई भी पदार्थ आपको सन्तुष्ट नहीं कर सकता। जब तक उनके प्रेम-रस की मिठास हमारे जन्म-जन्मान्तर के अभावों को मिटा नहीं देगी और रस से भर नहीं देगी, तब तक इस जीवन का कोई स्वाद नहीं है, ऐसा लगता है। अभाव के दिन जो होते हैं, वे बड़े शुभ होते हैं और अभावों से बेचैन हो करके शरीर और संसार के परे कुछ अनोखा, अलौकिक विलक्षण तत्त्व आदमी खोजने लगता है। वह भी बड़ा शुभ होता है। खोजने, ढूँढ़ने में अपने प्रयास में जब आदमी हार जाता है, वह सब से बढ़िया क्षण होता है। हार जाना सबसे बढ़िया होता है। क्यों ? क्योंकि साधक की पीड़ा उन करुणासागर से सही नहीं जाती। तुमने उनको पुकारा कि नहीं पुकारा—इसकी प्रतीक्षा भी नहीं करते। तुमने स्तुति की कि नहीं की, अभ्यर्थना की कि नहीं की, दुखड़ा सुनाया कि नहीं, उसकी प्रतीक्षा वे नहीं करते। सचमुच तुम साधक हो, अभाव से पीड़ित हो, उस अलौकिक अविनाशी जीवन के लिए लालायित हो और तुम्हारा वश नहीं चलता है, पीड़ा उपज रही है, हृदय मंथन हो रहा है, तो उसमें अहं का गल जाना और उनकी उपस्थिति का अनुभव हो जाना, उनके प्रेमस्वरूप से मिल जाना, उनके ज्ञानस्वरूप के आनन्द-सागर में अपने को समाहित पाना—ये सब बातें बहुत ही जल्दी एक ही साथ हो जाती हैं। सभी अनुभवी-जनों ने हम लोगों को इस बात को सुनाया है कि जैसे सूर्य का उदय और अन्धकार का नाश एक साथ होता है, वैसे ही असमर्थता की वेदना से अहं का गलना और 'उनका' मिलना एक साथ हो जाता है।

●

प्रवचन 13

सत्संग प्रेमी माताओ, बहिनो और भाइयो !

मनुष्य के जीवन का एक बड़ा ही रहस्य है। वह यह है कि जिस वास्तविक जीवन की उसमें माँग है, उसकी पूर्ति अनिवार्य है और जिस प्रतीति की ओर वह दौड़ रहा है, वह कभी-भी किसी को भी प्राप्त नहीं है। अप्राप्त प्रतीति की ओर हम सब लोग दौड़ रहे हैं। उसको पकड़ने की चेष्टा में जीवन का सब समय निकलता जा रहा है और जो नित्य प्राप्त है, कभी-भी किसी से बिछुड़ा नहीं, कभी अनुपस्थित हो ही नहीं सकता, उस जीवन के सम्बन्ध में हम लोग सन्देहात्मक विचार रखते हैं, उसके मिलने में निराशा रखते हैं। बहुत प्रकार की बातें अपने भीतर हम पाल लेते हैं, जिसके कारण इसी जीवन में, इसी वर्तमान में उस अविनाशी से मिलने का प्रोग्राम हमारा आरम्भ ही नहीं होता। कोई मान लेता है कि मेरे तो संस्कार अच्छे नहीं हैं। कोई मान लेता है कि मुझे बढ़िया सद्गुरु नहीं मिला, कोई महापुरुष मिलता तो मेरा काम बनता। अजीब-अजीब तरह की बातें सोच-सोच करके ऊपर-ऊपर से हम लोग प्रयास भी करते रहते हैं और भीतर-भीतर से निराश भी रहते हैं। यह अपनी दशा है, कि नहीं है? ऊपर-ऊपर से प्रयास भी चलता है। क्यों? क्योंकि भगवान का नाम लिए बिना रह नहीं सकते। इस दिशा में कुछ किए बिना अच्छा नहीं लगता है। यह तो अपनी संस्कृति की बात है, अपनी परम्परा की बात है।

मानव-जीवन की रचना के प्रभाव से ऐसा व्यवहार हम सब लोगों को करना ही पड़ता है। इस समय साँस चल रही है और किस समय बन्द हो जाएगी, कुछ पता नहीं है। इसलिए भगवान् को याद करो, तो थोड़ा याद भी करते हैं। और भाई, पुण्य कर्म करो, तो थोड़ा पुण्य कार्य भी करते हैं। थोड़ा दान करो, तो कुछ-कुछ दान भी करते रहते हैं। तीर्थ यात्रा करो,

तो कुछ तीर्थ यात्रा भी करते रहते हैं और कोई पूछे कि अच्छा, यह सब जो आप कर रहे हैं, उसके करने के फल से आज ही आपकी जीवन-मुक्ति हो जाएगी, आज ही आपको भगवत्-भक्ति मिल जाएगी? शान्ति मिल जाएगी? तो कहेंगे कि वह तो बड़े-बड़े ऋषि-मनीषियों को भी इतनी जल्दी नहीं मिली, तो हमको कैसे मिलेगी।

अर्थ क्या निकला? कि भीतर में यह दृढ़ता नहीं है कि हम उस जीवन को प्राप्त कर लेंगे। और उस जीवन की चर्चा के बिना, उसके प्रयास के बिना, रहा भी नहीं जाता, तो कुछ-न-कुछ करते रहते हैं। रहस्य क्या है? तो रहस्य बिल्कुल इसके विपरीत है। वह क्या है? कि अगर प्राप्ति हो सकती है, अगर अभिन्नता हो सकती है, तो उसी से हो सकती है जो नित्य विद्यमान है, जो नित्य प्राप्त है और जो अभी है। और उससे मिलने का अर्थ क्या होगा? उसकी प्राप्ति का अर्थ क्या होगा, जो कभी है और कभी नहीं है? विवेकीजन कहते हैं कि जो किसी भी क्षण में अनुपस्थित हो सकता है—कल था और आज नहीं है, आज है, पहले नहीं था, तो जो पहले नहीं था और आज है, सो दिखाई दे रहा है, तो मानना ही चाहिए कि वह कल नहीं रहेगा। इसलिए वर्तमान में भी उसको "नहीं" करके ही जानना चाहिए। उससे यह अर्थ निकलता है।

स्वामीजी महाराज को मनुष्य के सम्बन्ध में इस बात का बड़ा दुःख था कि जीवन-मुक्ति, भगवत्-भक्ति का आनन्द लेने में जो मनुष्य सब प्रकार से स्वाधीन है और समर्थ है, वही मनुष्य जीवन-मुक्ति और भगवत्-भक्ति के आनन्द से वंचित रहता है। जिस संसार को आज तक कोई पकड़ नहीं सका, उसी संसार को पकड़ कर बैठे रहने की चेष्टा में अनमोल जीवन गँवाता है। इस बात का उनको बड़ा दुःख रहता था। कभी भी समाज की सेवा की चर्चा होती, तो कहते कि भाई, सबसे बड़ी सेवा मानव-समाज की क्या है? कि उसको उसकी महिमा की याद दिला दी

जाए। यह सबसे बड़ी सेवा है। आज मानव-समाज में धन की महिमा बहुत हो गई है, बुद्धिमानी की महिमा बहुत हो गई है, पद, सम्पत्ति और सम्मान की महिमा बहुत हो गई है। लेकिन उसकी अपनी स्वयं की जो महिमा है, उसी को वह भूल गया है। धन के बल पर, पद के बल पर, शारीरिक स्वास्थ्य और रूप के बल पर, बुद्धिमानी, चालाकी और चतुराई के बल पर आदमी अपने को बलशाली समझता है। तो यह उसके महत्त्व को घटाना हुआ, कि बढ़ाना हुआ? घटाना हुआ। क्यों? इसलिए कि जो अमर जीवन का अधिकारी है, वह हाड़-माँस से बने हुए शरीर के बल पर अपने को बलवान समझता हो, तो उसके लिए बहुत बड़े घाटे की बात है। जो ईश्वरीय प्रेम का अधिकारी है, जिसके माध्यम से अलौकिक परमात्मा का अलौकिक प्रेम इस लौकिक जगत् के कण-कण को सिक्त कर सकता है, वही मनुष्य अपने को दलबन्दी के आधार पर बड़ा समझता हो, तो यह उसके लिए आदर की बात हुई, कि अनादर की बात हुई? सोचो।

इस दृष्टि से आप विचार करें। मानव-जीवन का बड़ा महत्त्व है। किसलिए? कि वह दिखाई देने वाले संसार की सेवा करके संसार के लिए उपयोगी हो सकता है और बिना किसी शर्त के प्रभु के आश्रित होकर के, उन्हीं का दिया हुआ प्रेमभाव उन्हीं को अर्पित करके, उनका प्यारा हो सकता है। फिर भी उसे अपने लिए न संसार से कुछ चाहिए, न परमात्मा से कुछ चाहिए। तो कितनी बड़ी बात है मनुष्य के जीवन में ! सेवा के द्वारा जगत् के प्यारे बन जाओ और भक्ति के द्वारा भगवान् के प्यारे बन जाओ। न संसार से कुछ माँगो, न भगवान् से कुछ माँगो। स्वयं स्वाधीन रहो। ऐसी स्वाधीनता हम भाई-बहिनों को अच्छी लगेगी, कि नहीं? जी? अच्छी लगेगी।

आप सोच कर देखिए। जिन बाल-बच्चों को आपने पैदा किया, गोदी में सम्हाल करके पाला, वृद्धावस्था में उन्हीं बच्चों के अधीन होना

किसी शानदार बाप को पसन्द आता है क्या? नहीं आता है। लेकिन अधीन होना पड़ता है। क्यों होना पड़ता है? क्योंकि आप उनसे कुछ चाहते हैं, इसीलिए होना पड़ता है। आपने पालन-पोषण किया, तो उसके पीछे ये आशाएँ रखीं अपने भीतर, कि जब वृद्धावस्था आयेगी, शारीरिक असमर्थता सतायेगी, तो जिनको मैं पाल रहा हूँ, वे मेरे सहायक होंगे। तो जिनकी सेवा की, उनसे अपने भीतर में कुछ आशा रखी, इसलिए उनके अधीन होना पड़ा। लेकिन मनुष्य ऐसा नहीं बनाया गया। जन्मा था तो दूसरों के अधीन होकर जन्मा था। बहुत प्रकार की सहायता माता-पिता से, परिवार से, प्रकृति से, समाज से, सरकार से, सबसे ले करके वह कुछ करने के लायक हुआ। जब वह कुछ करने के लायक हुआ, तो उसको ऐसा पुरुषार्थ करना चाहिए था कि फिर किसी माता-पिता की गोद में शरण न लेनी पड़े। फिर किसी की पराधीनता स्वीकार न करनी पड़े। ऐसा पुरुषार्थ अभी भी हम कर सकते हैं कि जिससे सदा-सदा के लिए सब प्रकार की पराधीनता मिट जाए।

सन्तजन यही सलाह हम लोगों को देते हैं। तो कौन-सा उपाय है, जिससे जन्म-मरण की बाध्यता खत्म हो जाए, सदा-सदा के लिए पराधीनता मिट जाए, भय और चिन्ता के भार से हम मुक्त हो जाएँ? क्या करना चाहिए? स्वामीजी महाराज ने कहा कि भाई, शरीर को सौंप दो जगत् के लिए और अपने को सौंप दो परमात्मा के लिए। शरीर को जगत् के हवाले कर देने का अर्थ क्या है? कि उसमें जो सामर्थ्य है, उससे जगत् की सेवा करेंगे और बदले में उससे कुछ चाहेंगे नहीं। संसार अपनी मर्जी से उस शरीर को रखना पसन्द करेगा, तो रखेगा और नहीं पसन्द करेगा, तो अपने लिए मुझको यह शरीर नहीं चाहिए।

यह आरम्भ में थोड़ा कठिन लगता है। लेकिन मैं बिलकुल सच्ची बात आपकी सेवा में निवेदन करती हूँ कि जिन भाई-बहिनों को समाज की सेवा का अवसर मिला, उन्होंने प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग किया।

दुःखी लोगों के दुःख में शामिल होने से मनुष्य के हृदय में इतनी शुद्धता और इतनी करुणा, इतना रस आ जाता है कि उनको अपने शरीर के रहने, न रहने का ध्यान ही नहीं रहता।

एक समाज सेवी सज्जन मुझको मिले थे। कई बार उनसे भेंट हुई थी। 14 वर्ष की उम्र में उनको सूझ गया कि हमारा देश बहुत ही दुःखी है, बहुत ही गरीब लोग हैं, तो मुझे उनकी सेवा में रहना है। जैसे ही उनको सूझा कि मुझे दुखी वर्ग की सेवा में रहना है, तैसे ही अपना सुख वे भूल गए—ऐसा मैं क्यों कहती हूँ? कि उन्होंने धन कमाने का, विवाह करने का, बाल-बच्चे पैदा करने का सुख सोचा ही नहीं। वे समाज की सेवा में लग गए और काफी बड़ी उम्र में जब वे 60-65 वर्ष के थे, तब उनका दर्शन हुआ था मुझे। मिले थे मुझसे। बातचीत हो रही थी। तो इतने आनन्दित हो करके, हृदय से इतने उत्साहित हो करके ये समाचार सुना रहे थे। वे कह रहे थे कि बहिन! मैं गरीबों की बस्ती में रहता था और उनके बच्चों को सम्हालता था, उनको पढ़ाता-लिखाता था। उनको सफाई सिखाता था, उनको अच्छी-अच्छी बातें सिखाता था और कुछ काम करना भी उनको सिखाता था। तो कुछ लड़के ऐसे थे जिनको उन्होंने सूत कातना और कपड़ा बुनना सिखाया गरीबों की बस्ती में जाकर। तो सामान भी दिया, समय भी दिया, प्यार भी दिया। उनके घर में रहे, उनके संग हँसना, खेलना, समय बिताना और अपने आदर्श के द्वारा उनके भीतर सोई हुई मानवता को जगाना—यह काम उन्होंने किया। आठ-दस वर्ष उस बस्ती में रहकर काफी काम करके फिर दूसरी बस्ती में चले गए। तो 'दादा-दादा' करके इतना प्यार उस गाँव में बच्चे-बच्चे में था कि याद करके उस महापुरुष की आँखों में प्रेम के अश्रु उमड़ रहे थे। कौन-सी बात वे याद कर रहे थे? कह रहे थे कि एक दिन मैं बैठा था दूसरी बस्ती में और सेवा के कार्य में लगा हुआ था। एक लड़का सात-आठ साल पहले जिसको मैंने

ट्रेनिंग दी थी वह 12-14 वर्ष का हो गया था। उसने सूत काता, कपड़ा-बुना और कपड़े का एक छोटा-सा थान—दस गज का थान हो सकता है—खूब अच्छा-सा तह करके सिर पर रख करके और एकदम खुशी के मारे नाचता हुआ आकर दादा से लिपट गया। 'दादा, दादा' यह मैंने बनाया है, यह मैं तुम्हारे लिए लाया हूँ। दादा, तुम पहन लेना इसको। तो कपड़ा तो जहाँ है, तहाँ है। उस बच्चे के हृदय में इतना प्यार उमड़ रहा है कि इस दादा ने मुझको प्यार दिया था, मुझको काम के लायक बनाया है और इस दादा के हृदय में प्यार उमड़ रहा है कि यह बच्चा इस काम के लायक हो गया और मुझको देख करके इसके हृदय में इतना प्रेम उमड़ रहा है। जिस समय दादा यह कथा मुझको सुना रहे थे उस समय वह बच्चा वहाँ नहीं था, न वहाँ कपड़ा था, लेकिन केवल याद करके मनुष्य के हृदय में प्रेम की प्रतिक्रिया में कितना प्रेम उमड़ता है! सेवा करने वाले सेवा-भावी सज्जन को यह वरदान जो मिलता है, उससे उनके जीवन में ऐसी ज्योति जगती है कि उसके आगे त्रिभुवन का वैभव धूल के समान हो जाता है।

अब सोचो, आज हमारे हृदय में ऐसी जड़ता छा गई है कि अपनी कमाई हुई सम्पत्ति अपने लिए, अपने परिवार के लिए खर्च करना मुश्किल हो गया। इस जड़ता को लेकर उसके भार से दबे हुए हो करके संसार-सागर को पार कैसे करोगे भाई? तो भार से दबे हुए पैदा हुए थे, हाथ-पाँव बँधे हुए कैदी बनकर दुनिया में हम आए और अपने ही संकल्पों से, अपनी ही आसक्ति से बँधे हुए कैदी होकर यहाँ से जाएँगे? कैसा लगता है ! हार है यह जीवन की।

सन्त महापुरुषों के हृदय में हमारी इस दुर्दशा से बड़ी पीड़ा होती है। और अपने दुःख का भार जिन्होंने ज्ञान के प्रकाश में मिटा दिया, हरि के आश्रित होकर जो सदा-सदा के लिए आनन्दित हो गए, उन लोगों से देखा नहीं जाता कि जो मनुष्य अमर जीवन का अधिकारी है, परम

स्वाधीनता का अधिकारी है, अलौकिक प्रेम का अधिकारी है, वही मनुष्य धन के लोभ में, जन के मोह में बेचैन होकर जिए और बेचैन होकर मर जाए ! यह दुर्दशा सन्त महापुरुषों से सही नहीं जाती। इसलिए उनको जो प्रकाश मिला है, उनको जो ईश्वरीय प्रेम मिला है, उसको वे खुले दिल से हम सबको प्रदान करते रहते हैं।

मुझे इस काम के लिए जब महाराजजी ठोक-पीट कर तैयार कर रहे थे, तो बार-बार यही कहते थे—"देवकीजी ! समाज की बड़ी-भारी सेवा हो जायेगी, अगर मनुष्य-मनुष्य के भीतर यह विश्वास जग जाए कि वह अपना उद्धार इसी वर्तमान में अपने द्वारा कर सकता है। बहुत बड़ी बात है।" अब क्या-क्या करें ? इस दृष्टि से सोचिए, तो एक हिस्सा तो हो गया कि शरीर को समाज की सेवा की सामग्री मान करके उसकी सेवा में लगा दें। बड़ी कठिनाई हो जाती है मनुष्य के लिए कि शारीरिक सुखों और अपनी सुरक्षा को अपने बल पर बचाए रख कर दूर-दूर से सेवा का थोड़ा-थोड़ा काम करना पसन्द करता है। इससे काम नहीं बनता। शरीर से श्रम न करना, शरीर को समाज की धरोहर न मानना, सबकी पीड़ा को अपनी पीड़ा न मानना— इस भूल के कारण सेवा बनती नहीं है। नहीं तो, शरीरधारी होकर संसार में हम लोग रहते हैं और बड़ी भारी महिमा है हम लोगों की कि शरीर के रहते-रहते हम इसके बन्धन से मुक्त हो जाएँगे। बहुत बड़ी बात है।

शरीरधारी होकर इस नाशवान जगत् में रहते हुए हम देहातीत जीवन से अभिन्न होकर जीवन-मुक्त हो जाएँगे। इतना बड़ा प्रोग्राम है आपका। इसके लिए पुरुषार्थ अपने को करना है। शरीरों के नाश से आसक्ति मिट जाती हो—ऐसी बात नहीं है। संसार को नाशवान कहने से संसार से लगाव छूट जाता हो—ऐसी बात नहीं है। कैसे छूटता है ? ज्ञान के प्रकाश में, विवेक के प्रकाश में अपने जीवन की घटनाओं का अध्ययन करो।

उससे क्या पता चलेगा? उससे पता चलेगा कि बहुत ही अनुकूलताओं की घड़ी में भी मुझे भीतर से सन्तोष नहीं हुआ। मुझे जो चाहिए वह तो अविनाशी जीवन है, वह तो अनन्त परमात्मा का अनन्त मधुर प्रेम है। अनन्त परमात्मा का मधुर प्रेम मुझको चाहिए। वह यह जगत् मुझे दे नहीं सकता। तो अलौकिक जीवन की माँग है जिसको, उसको लौकिक जगत् क्या दे सकेगा? अकेले-अकेले बैठ करके ख़ुद अपने सम्बन्ध में विचार करके निश्चय कर लीजिए कि मुझे जो चाहिए वह संसार से नहीं मिल सकता। बहुत बड़ा काम हो गया।

नई-नई आशाएँ, नई-नई महिमा जगत् की आप के ऊपर प्रभाव नहीं डाल सकेंगी। कभी-भी मैंने संसार को पसन्द किया, कभी-भी मैंने जगत् की ओर ललचाई हुई दृष्टि से देखने की भूल की, तो उसका एक स्टेम्प *(Stamp)* एक छाप हमारे अहम् में लग गई। यह मानव-जीवन का मनोवैज्ञानिक तथ्य है। मुझे तो इतनी हँसी आती है अपने ऊपर, बड़ी हास्यास्पद स्थिति मालूम होती है। हाय रे, कैसी गरीबी है ! देखो, क्या हाल किया उसने अपना? तो संसार में जहाँ-जहाँ तुम्हारी लोभ भरी दृष्टि पड़ी कि उस व्यक्ति के पास इतना सुख का सामान है, मुझे भी मिल जाता, तो बड़ा अच्छा होता। तो मिलेगा, कि नहीं मिलेगा। वह सब भाग्य में है, कि नहीं, विधान ने तुम्हारे लिए सोच कर रखा है, कि नहीं—सो तो जाने दो। केवल तुमने पसन्द किया कि यह मुझे मिल जाता, तो बड़ा अच्छा था। केवल इस पसन्दगी की भूल रे, उस दृश्य का ऐसा स्टेम्प अपने पर लगता है कि जगत् का सुख तो मिला ही नहीं। और, जब समाधि के लिए बैठो कि समाधिस्थ होकर आन्तरिक शान्ति का आनन्द लूँ, तो वही-वही दृश्य तुम्हारी आँखों के सामने घूमने लग जाएगा। "अमर आत्मा, सच्चिदानन्द मैं हूँ"—यह भूल जाओगे। यह दुर्दशा होती है। यह बिल्कुल बहुत ही स्थूल, सूक्ष्म शरीर की जो क्रियाएँ हैं, जिनका मनोवैज्ञानिक

अध्ययन किया जाता है, उस स्तर की बात है। केवल अपनी पसन्दगी में आदमी फँस जाता है। तो सोच लो। नहीं मिला, तो नहीं ही मिला और मिल गया, तो उसने थोड़ी और अधिक गरीबी में फँसा दिया। क्यों? क्योंकि आपके भीतर तो अमर जीवन की माँग है, परम प्रेम की प्यास है और बाहर-बाहर की वस्तुओं को इकट्ठी करते चले जाओ, करते चले जाओ, उनसे तुम्हारी तुष्टि होगी ही नहीं। जितना समय निकल गया बाहर की वस्तुओं को इकट्ठा करने में, वह तो हमारे लिए मौत के समान है। क्या उसमें जिन्दगी है? उसको पकड़ने के लिए दौड़ रहे हो, जिसका अस्तित्व ही नहीं है। वह जिन्दगी है, कि मौत है? अब सोच लो, हम लोगों के कदम कहाँ हैं? जीवन में हैं, कि मृत्यु में हैं? सोच लेना। इस बात का फैसला इसी स्पॉट *(Spot)* पर, इसी जगह पर, बैठे-बैठे अभी हो सकता है। यह एक हिस्सा हो गया।

दूसरी बात महाराजजी ने कही कि अपने को समर्पित कर दो परमात्मा के लिए। आप कहेंगे कि हम ऐसा क्यों करें? कोई पूछ सकता है और विशेष करके जिन लोगों के पास कुछ परिस्थितियों की अनुकूलता है वे कहेंगे कि वाह ! मेरे पुरुषार्थ से मेरे सामने इतना सुख आया, तो हम उस सुख को भोगें, कि परमात्मा के आगे समर्पित होने जाएँ? हो सकता है, किसी-किसी के ध्यान में ऐसी बात आए। लेकिन जो सजग व्यक्ति हैं, जो अपनी दशा को आप जानते हैं, जो अपना अन्तर्निरीक्षण कर सकते हैं, उनको सजगता रहती है। उन्हें पता चलता है कि यह जो कुछ हमारे सामने दिखाई दे रहा है—यह अभी है, अभी नहीं है, इसका कुछ ठिकाना नहीं। किसी से मुझे सन्तुष्टि मिली नहीं। मुझे तो एक ऐसा आधार जीवन में चाहिए कि जिसको पा करके और कुछ पाना शेष न रहे। ऐसी जरूरत आपने कभी अनुभव की है? कभी पता चलता है इस बात का कि मुझे तो अब ऐसा आधार चाहिए कि जिसको पा करके फिर और कुछ

पाना शेष न रहे? आज अपनी दशा देखो, तो जब जन्में थे तब तो एक पैसा हाथ में लेकर नहीं आये थे। आज सोच करके देखो तो, उस समय की दशा से आज की दशा में बहुत फर्क है। आज अपने पास काफी सामान है, काफी साथी हैं। किसी के पास कुछ कम, किसी के पास कुछ ज्यादा। इतना सब पाकर के भी आज क्या हम लोग इस स्थिति में हैं कि कह सकें, अब मुझे और कुछ नहीं चाहिए? वस्तुओं के आधार पर तो नहीं कह सकते।

मेरे जान-पहचान के एक साधक थे। उनके गुरु बड़े महापुरुष थे और उनके पास बहुत सम्पत्ति आ गई थी आखिर में। लीलामय की लीला है। कहाँ-कहाँ ले जाकर मुझको वे मेरा चित्र दिखलाना चाहते हैं, सो कौन कहे! तो उस महापुरुष के पास बहुत-सी सम्पत्ति आ गई थी। उनके जो शिष्य थे, वे एक समझदार व्यक्ति थे। वे सज्जन मुझको बताते थे कि देवकीजी ! मैं जाता हूँ साल में एक बार गुरु पूर्णिमा पर। गुरु के दर्शन करने जाता हूँ, प्रणाम करने जाता हूँ। मुझे बड़ा दुःख होता है। क्या दुःख होता है जब मैं जाता हूँ, तब हमारे गुरु महाराज कहते हैं कि राधानाथ ! तू आ जा यहाँ पर। जल्दी आ जा। यह सब बर्बाद होने जा रहा है। न जाने कैसे-कैसे अविवेकी लोगों के हाथ में सम्पत्ति पड़ जायेगी। मैं चाहता हूँ कि मेरे जीते-जी इसको कोई समझदार आदमी सम्हाल ले, तो मैं इसकी ओर से निश्चिन्त हो करके शरीर त्याग करूँ। तो वे भाग कर चले आते। कहते कि मैं तो हाथ जोड़ करके, प्रणाम करके चला आता हूँ। क्यों बाबूजी, आप ऐसा क्यों कहते हैं? तो कहें कि उनकी तकलीफ देख करके मुझको अपनी तकलीफ सूझती है। उनको इतनी तकलीफ हो रही है इस सम्पत्ति के कारण से, तो मैं वहाँ जाकर इसको सम्हालने लगूँ, तो कल मेरी भी वही दशा होगी। वे भागकर चले आते। तो मैं क्या बताऊँ ! गृहस्थ

लोग जो धन की आसक्ति लेकर बैठे हैं, उनकी तो दुर्दशा की कोई सीमा ही नहीं है। उनकी बात मैं क्या बताऊँ?

भाई! जो अनुभवी सन्तजन हैं, वे हम लोगों को हल्का करने के लिए, जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त करने के लिए, अनन्त परमात्मा के प्रेम से भरपूर करने के लिए, अपनी जानी हुई, अनुभव की हुई सच्ची बातों को हमारे सामने रखते हैं।

महाराजजी ने कहा था कि शरीर को सौंप दो जगत् की सेवा में और अपने को समर्पित कर दो परमात्मा की शरण में। उनके शरणागत हो जाओ, उनके आश्रित हो जाओ। दुःख की घड़ी में घबराहट से जब व्यक्ति परेशान होता है, तब तो उसको थोड़ा प्रैक्टीकल *(Practical)* लगता है कि भगवत्-समर्पित होकर छोड़ दो। मैंने ऐसे कई दुखीजनों को देखा है, जिन्होंने दुःख की विशालता और अपनी असमर्थता देखकर अपने लौकिक-पारलौकिक सब काम को भगवत्-समर्पित करके छोड़ दिया। मैंने दो-तीन गृहस्थ लोगों को देखा है जिनकी सेवा में खड़े होने का अवसर मुझको मिला था। मैंने देखा कि लौकिक-पारलौकिक सब समस्याओं को भगवान के भरोसे छोड़ करके वे शान्त हो गए। कहा कि अब मुझसे कुछ होने का है नहीं। न मैं परिवार और बच्चों के लिए कुछ कर सकती हूँ और न मैं अपने कल्याण के लिए कोई पुरुषार्थ कर सकती हूँ। पहाड़ के समान विपत्ति उनके सामने आ गई थी और उन्होंने सबको भगवत्-समर्पित करके छोड़ा। तो उनके शरीर का नाश हुआ पीछे और उनके भीतर प्रभु की कृपा का दर्शन हुआ पहले। ऐसी घटनाएँ मैंने कई बार देखी हैं। जीवन की सच्ची घटनाओं के आधार पर भाई-बहिनों से मैं निवेदन करती हूँ कि जब दुःख की वृद्धि हो जाती है, सामर्थ्य घट जाती है। ऐसे काल में प्रभु की महिमा का आश्रय पकड़ना व्यक्ति के लिए बहुत ही शान्तिदायक होता है। भीतर से भी आराम मिल जाता है, बाहर से भी परिस्थितियाँ बदल जाती हैं। बहुत कुछ हो जाता है।

अब हम लोगों की दशा क्या है? साधक बने हैं, सत्संगी बने हैं, हरि-आश्रय का पथ—प्रभु की शरणागति की साधना को पसन्द किया है। अपनी इन सारी बातों के होते हुए भी अपने भीतर न जाने किस प्रकार की जड़ता बैठी है कि हमारे और 'उनके' बीच की दूरी खत्म ही नहीं हुई और भले आदमियों की सूची में नाम लिखवा करके आराम से खा-पी कर सो-सो कर दिन काट रहे हैं। अपनी दशा तो मुझे ऐसी दिखाई देती है। आपको कैसी दिखाई देती है, आप जानिए।

इसको मैं बार-बार अपने सामने रखती हूँ और सोचती हूँ कि थोड़ी-सी अनुकूलताओं ने मुझको जड़ बना दिया। रहन-सहन की सुविधा हो गई, समाज में थोड़ा सम्मान मिल गया। तो प्रभु की इस कृपालुता के आधार पर उनकी महिमा और गहरी हो करके हृदय में बैठनी चाहिए थी। अपने बल पर जो हम नहीं कर सकते थे, प्रभु की शरणागति स्वीकार करने पर उन्होंने अपनी कृपा से इतना सब सुधार दिया। चित्त में थोड़ी शान्ति आ गई, जीवन में थोड़ी स्थिरता आ गई। तो इस मामूली-सी उन्नति पर हम बिक गए, उस महामहिम की महिमा हमारे में हल्की पड़ गई और वर्तमान की अनुकूलता और समाज का दिया हुआ सम्मान—इसका पलड़ा भारी हो गया। तो परिणाम क्या हुआ? कि हमारे और परमात्मा के बीच में दूरी बनी हुई है और फिर भी हम आराम से खा-पी करके सो रहे हैं। जिन दिनों पाँव के नीचे धरती नहीं थी, जो बड़ी घबराहट के दिन थे, उन दिनों प्रभु की शरणागति के भाव में बड़ी सजीवता थी। "हे प्रभु ! तेरे सिवाय मेरा और कोई नहीं है"— उस दिन यह बात बहुत सच्ची लगती थी और उन्होंने कृपा करके अनेक रूपों में मदद देना शुरू कर दिया, मदद भेजना शुरू कर दिया। यदि अनेक रूपों में उन्हीं प्रभु का दर्शन करते, तो भाव गहरा होता चला जाता।

अब जब बाहर की घटनाओं का प्रभाव मुझ पर होता है, तो मैं खूब अपने को पाठ पढ़ाती हूँ और अपने साथ की रहने वाली साधिकाओं और साधकों को याद दिलाती हूँ। कोई सम्मान देने आया, तो मैं सावधान करती हूँ कि अरे, प्रभु प्रेम की प्यास अभी भी धीमी है ! सम्मान की भूख अभी-भी मुझ में शेष है। मेरे प्यारे, मेरे उस संकल्प की पूर्ति के लिए विविध रूप बनाकर सम्मान देने आए हैं, तो मैं सावधान रहूँ। जगत् की ओर से जो सम्मान देने के लिए आया है, मैं उसके अधीन न हो जाऊँ। तो सावधान रहो भाई। कहीं ऐसा न हो कि तुम्हारे पीछे चलने वालों का रंग तुम पर चढ़ जाए, तो कठिन हो जाएगा। तब तो नौका डूब जाएगी। डूब जाएगी, कि नहीं डूब जाएगी ? इसलिए सावधान रहो। और जब मेरे प्यारे ने देखा कि हमने तो इसको थोड़ा सहारा दिया था इस बात का कि लोभ-रहित होना है, मोह-रहित होना है, क्रोध रहित होना है, सुख-सुविधा, सम्मान को त्यागना है। तो यह एक चढ़ाई का अवसर था, जिसमें अपने साथ थोड़ी कमर कस के बहादुरी करने की बात थी, तो जैसे सन्तजन कहते हैं कि थोड़ा धूप में चलते-चलते साधक कष्ट अनुभव करता है तो परमात्मा जो हैं, अपने प्यारे जो हैं, वे वृक्ष की ठण्डी छाया देकर थोड़ा सबको विश्राम देते हैं। इसी तरह से प्यारे प्रभु ने अपनी शरण में आये हुए साधक को विश्राम देने के लिए थोड़ी-सी अनुकूलता दे दी। अब उस अनुकूलता को लेकर बैठ जाओ, तो उस प्यारे से दूर हो जाओगे, कि निकट होगे ? दूर होगे। तो सावधान रहो भाई। किसी प्रकार की अनुकूलता आ गई, तो भेजने वाले को याद करो। अनुकूलता पर ध्यान मत दो।

लेकिन जन्म-जन्म का प्यासा आदमी—क्या बताऊँ मैं बड़ी लज्जाजनक स्थिति होती है अपनी, जब भीतर-भीतर दिखाई देती हैं वासनाएँ। जब प्रभु की कृपा से आई हुई अनुकूलता को पकड़ कर बैठ

जाती, तो वे ही मेरे प्यारे थोड़ी प्रतिकूलता का वेष बनाते हैं, थोड़ी असुविधा सामने आती है, थोड़ा अनादर सामने आता है। तो मैं सोचती हूँ कि देखें, वह जो लीला हो रही है, उसकी प्रतिक्रिया अपने पर कैसी होती है ! अनादर थोड़ा भीतर-भीतर कटु लगता है, तो चेतना आती है कि अच्छा, सम्मान का सुख तुमने अपने लिए पसन्द किया, तो अनादर का कड़वा घूँट भी आनन्द से पीओ। क्या होगा इससे ? "महारोग" का नाश होगा। यह प्रतिकूलता भी उस प्यारे की कृपा का प्रसाद है। परम कृपालु ने मुझको डूबने से बचाने के लिए यह प्रतिकूलता का वेष बनाया है। अगर पहचान में आ गई बात, तो कितना आनन्द छा जाता है ! उनकी कृपालुता के दर्शन से हृदय निर्मल हो जाता है।

●

प्रवचन 14

सत्संग प्रेमी माताओ, बहिनो और भाइयो !

जो वर्तमान का चित्र है हमारा, उसमें क्या है ? सत्य की जिज्ञासा भी है और दृश्यों के प्रति आकर्षण भी है । परम प्रेम की प्यास भी है और शरीर तथा संसार के संयोग-जनित सुख की आसक्ति भी है । परम शान्ति की आवश्यकता भी हम अनुभव करते हैं और कामनाओं की पूर्ति के सुख का प्रलोभन भी है ।

ऐसा लगता है कि जब तक कामनाओं की पूर्ति के सुख का प्रलोभन रहेगा भीतर, तब तक परम शान्ति मिलेगी नहीं । तो अब अपने लिए विचारणीय क्या है ? विचारणीय बात यह है कि कामनाओं की पूर्ति के सुख का लालच अपने भीतर रखें, कि उसको निकाल करके अपने ही में मौलिक रूप में विद्यमान शान्ति-तत्त्व का अनुभव करें ? अगर मैं यह प्रश्न रखूँ अपने लोगों के सामने कि भाई, दोनों में से कौन ग्रहण करने के लायक है ? तो कामना-पूर्ति के सुख का लालच रखें ? सुख रखें—ऐसा तो कोई कह नहीं सकता, क्योंकि सुख को बनाए रखने में मनुष्य सर्वथा पराधीन है ।

अब दूसरी बात सामने आती है कि कामनाओं की पूर्ति के सुख कों तो झक मारकर छोड़ना ही पड़ता है । यह तो प्रतिदिन की बात है, हर दिन का अनुभव है । संकल्प उठते हैं और पूरे नहीं होते हैं, तो भीतर से दुःखी होकर के, परेशान होकर के, विवश हो करके छोड़ना पड़ता है । केवल सुख के लालच को ही आदमी सम्हाल कर भीतर-भीतर रखे रहता है । अब सोचने की बात यह है कि शान्ति की आवश्यकता अनुभव करना और संकल्प-पूर्ति के सुख के लालच को भी मन में बनाए रखना— यह तो दुविधा की बात हो गई । अतः साधक मात्र के लिए कल्याण की बात

यह है कि वह संकल्प-पूर्ति के लालच को छोड़ दे और शान्ति-तत्त्व की आवश्यकता अनुभव करे। क्योंकि एक बार किसी प्रकार की कामना-पूर्ति का सुख ले लें, तो पुनः उसी सुख को दुहराने के लिए नई-नई कामनाएँ उत्पन्न होती रहती हैं। मनोविज्ञानवेत्ता कहते हैं कि मनुष्य का मन जो है वह सुख के सिद्धान्त *(Pleasure Principle)* पर काम करता है। इसका मतलब क्या है? कि जिन बातों से सुख मिला, उन्हीं बातों की बारम्बार पुनरावृत्ति के लिए नए-नए संकल्प उठते रहते हैं। तो इच्छाओं की उत्पत्ति का अनुभव भी अपने को है। इच्छाओं की पूर्ति के परिणाम को भी हम जानते हैं और अपूर्ति के दुःख को भी जानते हैं। तो पचास प्रतिशत तो अपनी जानी हुई बात हो गई।

अब दूसरा पक्ष देखिए। कितना समय हमने निकाला इस बात में कि इच्छाओं की पूर्ति होती रहे और उसका सुख हम लेते रहें? यह बात बनी नहीं। सत्संग में आकर सन्त की सलाह सुनकर, विचार का प्रकाश लेकर, ईश्वर का प्रकाश लेकर हम कुछ ऐसा अलौकिक जीवन पाना चाहते हैं कि जिसका अनुभव शरीर और संसार के संयोग में सम्भव कभी भी नहीं है। मानव-जीवन के सम्बन्ध में बहुत-सी बातों को सुना और सत्संग के प्रकाश में अपना वर्तमान चित्र देखा। सन्तों के दिए हुए आश्वासन से, ग्रन्थों के दिए हुए मार्गदर्शन से हमने अपने लिए सोचा कि अब तो शान्ति के लिए पुरुषार्थ करना चाहिए, अब तो स्वाधीनता के लिए पुरुषार्थ करना चाहिए। इस प्रकार हम सभी भाई-बहिन अपने ही अनुभव के आधार पर शरीर और संसार के संयोग-जनित परिणामों को देखकर, उससे आगे बढ़ने के लिए तैयार हो गए हैं। तो अब कामना-पूर्ति के सुख का लालच छोड़ना होगा। और अगर उसे छोड़ने को राजी नहीं हैं, तो परम शान्ति की माँग कभी पूरी नहीं होंगी। एक समय में दोनों में से एक ही रहेगा।

महाराजजी ने इस विषय का खूब विश्लेषण किया। जगह-जगह उन्होंने बताया कि भाई देखो, संसार जिसको कहते हैं, संसृति जिसका नाम

है, दृश्य जिसका नाम है, उसमें ऐसा कुछ ठोस है ही नहीं कि तुम उसको पकड़ कर अपने पास रख लो। शारीरिक स्वास्थ्य, युवावस्था बहुत पसन्द आती है। हम लोगों ने उस सुख को भी देखा है और उसके बीच इनके जाने की बेबसी को भी देखा है। तो इन बातों की जानकारी का प्रभाव अपने पर होना चाहिए। इस दृश्य-जगत् में वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति आदि में कहीं पर भी ठहराव नहीं है। कहीं भी इसमें स्थिरता नहीं है। बिल्कुल शुद्ध वैज्ञानिक स्तर पर संसार और दृश्यों के सम्बन्ध में विचार प्रकट करते हुए यह कहा गया कि हम लोगों को भ्रम-ही-भ्रम है। हम कहते हैं कि यह दृश्य मैंने देखा है, मैं इस व्यक्ति को पहचानता हूँ, इस घटना को मैं जानता हूँ, इन परिस्थितियों से मैं परिचित हूँ—ऐसा कहना भी हम लोगों का भ्रम ही है। क्यों? क्योंकि जब परिचय प्राप्त किया था तब में और आज में, जब आप कह रहे हैं कि मैं परिचित हूँ, बहुत अन्तर हो गया। इस बीच में परिस्थितियाँ भी बदल गईं, आपके देखने का यन्त्र भी बदल गया, आपका बैकग्राउण्ड (पृष्ठभूमि) भी बदल गई—सब कुछ बदल गया। कुछ भी वैसा-का-वैसा नहीं रहा। कहीं कोई टिकाव नहीं है, कहीं कोई ठहराव नहीं है। यह कोरा भ्रम है। जो हम लोग सोचते हैं कि संसार के कुछ भागों को मैंने पकड़ के अपने पास रख लिया है और उसके सहारे मेरा निर्वाह हो जाएगा—यह कोरा भ्रम है।

ऐसा भी कहा महाराज जी ने कि भैया देखो, इसको पकड़ करके तुम अपने पास तो रख ही नहीं सकते। इसमें ठोस कुछ है ही नहीं। और जो दिखता भी है, रखने जैसा लगता भी है, उसका भी विश्लेषण करो, तो संसार का निकटतम हिस्सा, जिसको हम अपने पास समझते हैं वह है शरीर। शरीर को भी अगर तुम खोजो, इसका अध्ययन करो, इसका विश्लेषण करो, तो इसमें भी तुमको वह बनने-बिगड़ने-बदलने वाला संसार

ही मिलेगा। जिसकी तुम्हें माँग है वह नहीं मिलेगा। जैसे—रक्त-परीक्षण कराइए, तो उसके परिणाम में कोई डॉक्टर लिख देगा कि लोहा कम हो गया, कोई लिख देगा कि शुगर की मात्रा बढ़ गई। शरीर के किसी अंश का विश्लेषण आप करेंगे, तो उसके रिजल्ट में कुछ भौतिक तत्त्व ही मिलेंगे। इसमें ऐसा कुछ नहीं मिलेगा, जो तुम्हारा होकर रह सके, जिसको कि तुम ग्रहण कर सको, जोकि तुम्हारे पास तक पहुँच सके—ऐसा कुछ नहीं मिलेगा। इस दशा में इस बात की जानकारी का हम लोगों ने लाभ नहीं उठाया कि दृश्य-जगत् में स्थिरता नहीं है, ठहराव नहीं है, इससे मेरी जातीय एकता नहीं है, इससे मेरा नित्य-सम्बन्ध है नहीं, हो सकता नहीं, आज तक कभी हुआ नहीं—इन बातों की जानकारी का प्रभाव अपने पर यदि हुआ नहीं, तो अपनी जो माँग है वह पूरी नहीं हो सकती।

अपने लिए आज इस वर्तमान क्षण में ग्रहण करने के लिए क्या मिला? तो भाई, दो ही बातें हैं—अगर चिर-शान्ति चाहिए, तो कामनाओं की पूर्ति के सुख के प्रलोभन का त्याग कर दो। सुख को पकड़ कर तो रख नहीं सकते, प्रलोभन को रख लेते हो। वस्तुओं को अपने भीतर भर नहीं सकते, वस्तुओं का लोभ रख लेते हैं। शरीर को अपने नियन्त्रण में चला नहीं सकते, शरीर का मोह अपने में रख लेते हैं। तो शरीर बन्धन नहीं, शरीर का मोह बन्धन है। वस्तु हमारे भीतर भरी हुई नहीं है, वस्तु का लोभ भरा है। अतः वस्तु को उठा फेंकने से काम नहीं चलेगा, वस्तु का लोभ भीतर जो भरा है, उसे निकालना है।

प्रातःकाल जो चर्चा चल रही थी और कल सन्ध्या समय जो चर्चा चल रही थी, उसके सन्दर्भ में ये बातें आपकी सेवा में निवेदन कर रही हूँ। हम सोचते हैं कि मन भगवान में लगता नहीं है, भजन बनता नहीं है, ध्यान टिकता नहीं है। तो हमारे भीतर जो भर नहीं सकता उसका लोभ, उसका मोह, उसकी आवश्यकता अपने भीतर रख ली, तो जो सचमुच

सदा-सदा से अपना है, जो अपने में ही विद्यमान है, जिससे मेरी सत्ता है, उसकी अभिव्यक्ति का अपने को कोई अनुभव नहीं हुआ—इतनी सी बात है। और तो कुछ है नहीं।

इतने दिन जप किया, कि नहीं, इतने दिन तप किया, कि नहीं, इतने दिन तीर्थ-यात्रा की, कि नहीं, विशेष प्रकार का रहन-सहन अपनाया, कि नहीं—इन सब बातों को तो व्यक्ति की अपनी व्यक्तिगत रुचि, परिस्थिति पर छोड़ दिया गया है। जिसकी जैसी रुचि हो, जिसकी जैसी परिस्थिति हो, वह वैसा करे। कभी-कभी किसी-किसी साधक का पूर्व जन्म का संस्कार भी रहता है, तो क्रियात्मक साधनों को किए बिना उससे रहा नहीं जाता। यह तो व्यक्तिगत बात हुई। लेकिन सर्वमान्य सत्य क्या है? वैज्ञानिक और दार्शनिक सत्य क्या है?

वैज्ञानिक सत्य यह है कि जो अपने में नहीं है, जो अपना नहीं है, उसकी कामना अपने में रखोगे, तो जो अपने में है, उसके होनेपन का आनन्द नहीं मिलेगा। सूरदासजी कहते हैं कि—

'काके द्वार जाइ सिर नाऊँ, पर हथ कहाँ बिकाऊँ' अर्थात् एक भगवान् को छोड़कर और कोई आश्रय नहीं है, तो और किसके दरवाजे जाकर सिर झुकाऊँ? "पर" के हाथ अपने को कहाँ बेचूँ ! सिवाय परमात्मा के, बाकी और जो कुछ हम लोगों को अपने से भिन्न दिखाई देता है, वह सब जब तक दिखाई देता है "पर" ही है। जब नहीं दिखेगा, तो "पर" रहेगा ही नहीं। एक ही रह जाएगा, "स्व" ही रह जाएगा। सारी सृष्टि उस "स्व" में ही समा जाएगी। लेकिन जब तक हमें एक से भिन्न अलग दिखाई देता है, यह सब "पर"—ही—"पर" है। अतः अपनी दशा को अपने सामने रखकर देखो कि साधक होते हुए भी, सन्त वाणी में श्रद्धा करते हुए भी, ग्रन्थ के वाक्यों को पसन्द करते हुए भी आज हम लोग कहाँ बिके हैं? जो हमारा है, उसके हाथ अपने को बेच दिया होता, तो सब समस्याएँ हल हो गई होतीं।

मीराजी कहती हैं "जन्म जन्म की दासी मीरा"। वह और कहीं नहीं जाएगी और किसी का अस्तित्व उनके लिए है ही नहीं। और किसी का अस्तित्व उनके लिए नहीं है और आज की नहीं, वे कहती हैं—"मेरी उनकी प्रीति पुरानी, जन्म-जन्म की दासी मीरा।" स्वामीजी महाराज एक भजन सुनाते थे हम लोगों को—"हो गया गुलाम तेरा बेदाम का।" तो अगर बेदाम हम उसके हाथ बिक गए होते, तो सारा झंझट ही खत्म हो जाता। लेकिन आज थोड़ी देर के लिए शान्त होकर, अकेले होकर, दरवाजा बन्द करके अपनी जगह में बैठ के देखो तो, कि हम कहाँ-कहाँ बिके हैं? कहीं सन्तान के हाथ बिक गए हैं, कहीं बैंक एकाउन्ट के हाथ बिक गए हैं, कहीं समाज के दिए हुए पद के हाथ बिक गए हैं कहीं प्राप्त की हुई योग्यता के हाथ बिक गए हैं। तो कहाँ-कहाँ अपने को बेच करके बैठे हैं ! और सोचते हैं कि हाय, हमारा मन एकाग्र क्यों नहीं होता ! यह बड़ा ही जोरदार प्रश्न है और हम सब भाई-बहनों को इस विषय पर विचार कर लेना चाहिए कि कामना-पूर्ति के सुख के लालच को छोड़े बिना शान्ति की अभिव्यक्ति होती ही नहीं है। और शान्ति नहीं मिली अपने को, तो शान्ति के पार की बातें जो हैं, वे तो कभी सम्भव ही नहीं हैं। यह पहला कदम है।

अकेले-अकेले बैठ करके आज रात्रि के भोजन के बाद सब कार्यक्रम खत्म हो जाने के बाद जब आप सोने के लिए बिल्कुल शान्त होकर अपनी जगह पर जाएँगे तो एक बार अपने से पूछियेगा कि ग्रन्थों का अध्ययन ही करते रहोगे, कि दौड़-दौड़ करके यात्रा की कठिनाइयों को सहन करके तीर्थों में ही जाते रहोगे, कि पढ़ते ही रहोगे, कि सुनते ही रहोगे, कि कामनापूर्ति के सुख का लालच छोड़ोगे? एक ओर ये सारे क्रियाकलाप और एक ओर यह सत्य। अगर कामनापूर्ति के सुख को छोड़ने के लिए हम तैयार हो गए—सुख को नहीं, सुख के लालच को—सुख तो स्थूल है, लालच सुख से भी सूक्ष्म है। तो यदि हम उसको छोड़ने के लिए तैयार हैं, तो सब बातें सफल हो जाएँगी।

अब इसके बाद आशाजनक बात बताऊँ आपको। अपने सम्बन्ध में मैंने स्वामीजी को बताया कि कामनाओं से रहित एक क्षण का जीवन भी मेरे अनुभव में नहीं है। इसका अर्थ यह है कि कामनाएँ जन्मजात हैं, फिर उनका नाश कैसे सम्भव है? दूसरा पक्ष यह भी है कि कामनाओं से प्रेरित होकर ही मनुष्य क्रियाशील होता है, सब प्रकार का उद्यम करता है, रहन-सहन की सुविधाओं के लिए अनेकों आविष्कार होते हैं। भला कामनाओं के बिना मनुष्य का व्यवहार-जगत् कैसा होगा? जब यह सब प्राकृतिक बात है, तो इसको मिटाने की सामर्थ्य अपने पास कहाँ से आएगी? जब यह खत्म ही नहीं होता है, तो परम शान्ति, अमर जीवन और परम प्रेम का रस— यह तो कहने-सुनने के लिए रह जाएगा, मिलेगा तो कभी नहीं।

इस पर उन्होंने एक बहुत ही अच्छी बात बताई। बहुत ही युक्ति-युक्त और विज्ञान को पार करने वाली बात थी। उन्होंने कहा कि देखो, जो बात पैदा होती है, उसका नाश होता है। ठीक है न? जिसकी उत्पत्ति होती है उसका नाश होगा। और जो उत्पत्ति-विनाश युक्त है, उससे तुम्हारा नित्य सम्बन्ध नहीं है। कामनाएँ उत्पन्न होती हैं, इसलिए उनका नाश अवश्यम्भावी है। कामना किसे कहते हैं? जो तुम्हें "पर" की ओर आकर्षित करे। जो "स्व" की ओर आकर्षित करे, उसको कामना नहीं कहते। परम शान्ति की माँग, परम प्रेम की माँग, अनन्त आनन्द की माँग, अमरत्व की, स्वाधीनता की माँग ये "स्व" की ओर खींचने वाली बातें हैं। और ऐसा भोजन मिले, ऐसा वस्त्र मिले, ऐसा आवास मिले, ऐसी प्रसिद्धि मिले, ऐसा पद मिले, ऐसा अधिकार मिले—ये बातें जब पैदा होती हैं भीतर, तो हमारी वृत्ति जो है वह "स्व" की ओर से हटकर "पर" की ओर चली जाती है। "पर" की ओर जाएगी तो पराधीन बनायेगी। पराधीनता के बिना कभी किसी सुख का सम्पादन होता ही नहीं है।

कामनाओं की उत्पत्ति मात्र से व्यक्ति अपने स्वाभाविक सन्तुलन से हट जाता है अर्थात् उसका *Equilibrium Disturb* हो जाता है। अपनी स्वाभाविक शान्ति, जो उसका स्वरूप है, उससे वह हट जाता है। जिसकी उत्पत्ति मात्र से हम "स्व" की ओर से विमुख होकर "पर" की ओर आकर्षित हो जाते हैं, उसका नाम है 'कामना'। वह मौलिक नहीं, अपितु भूल का परिणाम है। इसलिए ज्ञान के प्रकाश में उससे मिलने वाले सुख का लालच छोड़ दो, तो उसकी उत्पत्ति बन्द हो जाएगी। जो मिटने वाला है, वह मिट जाएगा। और मिटने वाला मिट जाएगा, तो रहने वाला प्रकट हो जाएगा। कामनाओं और कामनापूर्ति के सुख के प्रलोभन को यदि हम छोड़ देंगे, तो परम शान्ति की अभिव्यक्ति के लिए फिर नया पुरुषार्थ नहीं करना पड़ेगा। कितनी अच्छी बात हो गई ! जो मुझको चाहिए, जो मुझमें है, जो अविनाशी है, वह किसी भी काल में, हमारे भूतकाल में भी नाश नहीं होता। न ज्ञान का नाश होता है, न प्रेम का नाश होता है, न शान्ति का नाश होता है। ये अलौकिक तत्त्व हैं। तो इनकी सत्ता जो है, वह इस परम सत्ता पर आधारित होने के कारण ये कभी मिटते नहीं, ये रहते ही हैं। तो कितना भी बल के अभिमान में आकर, क्रोध के आवेश में, कोई खुद जले और दूसरों को जलाए। ऐसे समय में भी उसके भीतर, उसके अहम् रूपी अणु में अलौकिक तत्त्व के रूप में वह शान्ति अव्यक्त रूप में विद्यमान है। उसका नाश नहीं होता। दूसरों में हलचल मचाने वाला और दूसरों के लिए अशान्त वायुमण्डल पैदा करने वाला व्यक्ति भी कुछ देर के बाद खुद अपने लिए शान्ति की आवश्यकता अनुभव करता है, क्योंकि वह मिटती नहीं है, मिटने वाली चीज नहीं है। वह हमेशा के लिए रहने वाली चीज है।

इसलिए सत्संगी होने के नाते, सत्संग के प्रकाश में एक बार जब हम लोगों ने इस बात को स्वीकार किया कि शान्ति की माँग मानवमात्र की माँग है। और सच पूछिए तो जब तक इस जीवन में शान्ति की

अभिव्यक्ति नहीं हुई, तब तक हम लोगों ने जीवन का तो स्वाद ही नहीं जाना। यह दौड़-धूप जो चल रही है, जिसमें कभी सुख मालूम होता है, कभी दुःख मालूम होता है—यह सब कोरा भ्रमजाल ही है। सब तमाशा प्रतीत होने लग जाएगा। इसमें ऐसा कुछ भी नहीं है, जिस पर गौरव किया जा सके।

स्वामी जी महाराज ने बताया कि भौतिक विकास, शुद्ध भौतिक विकास की दृष्टि से विचार करो, तो भी तुमको इस बात का गौरव होना चाहिए कि इस जीवन में जो भौतिक तत्त्व हैं, वे जगत् के काम आ जाएँ और मुझे अपने लिए न शरीर की जरूरत रहे और न संसार की जरूरत रहे। सारी पराधीनता मेरी मिट सकती है। मैं परम स्वाधीन हूँ। मैंने बहुत-सी पराधीनताओं को ओढ़ लिया है, पहन लिया है। यह गौरव की बात है, या लज्जा की बात है?

अगर गौरव की बात है, तो यह है कि परम शान्ति मेरा सहज स्वरूप है। अगर मनुष्य को अपने मनुष्य होने का गौरव हो, तो इस बात पर हो कि संसार मुझे नहीं चाहिए। "पर" की आवश्यकता मुझे बिल्कुल नहीं है। पराश्रय, पराधीनता से मुक्त होना मनुष्य के जीवन के लिए गौरव की बात है। सृष्टि के मालिक जो सब कुछ करते हैं, सब कुछ कर सकते हैं, सब कुछ सबको देते हैं, उनके हम प्रेमी हैं, उनको हम प्रिय हैं, इस बात का गौरव होना चाहिए।

महाराजजी ने मुझको बताया कि देखो, यह जो संकल्पों का स्वरूप है वह कभी पूरा हो ही नहीं सकता, जो पूरा होकर के भी अधूरे के समान है, क्योंकि एक संकल्प की पूर्ति अनेकों संकल्पों को जन्म देती है—तो ऐसा जो तत्त्व है वह मौलिक नहीं हो सकता। ऐसा जो तत्त्व है, वह हमारी भूल का परिणाम है और उसका नाश करना हमारा पुरुषार्थ है। संकल्प-पूर्ति जीवन नहीं है, लेकिन संकल्प की निवृत्ति सम्भव है। क्यों? क्योंकि संकल्प

की निवृत्ति में शान्ति की अभिव्यक्ति और शान्ति की अभिव्यक्ति में विचार का उदय होता है।

हम सब लोग जो यहाँ बैठे हैं, शान्ति और अमरत्व, स्वाधीनता और परम-प्रेम की अभिलाषा लेकर बैठे हैं। जो भी कुछ विवेचन हम कर रहे हैं, उसके आधार पर अपना अगला कदम देखना है। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि अलौकिक जीवन के अनुभव का आरम्भ होगा शान्ति की अभिव्यक्ति में। और शान्ति के लिए कामना-पूर्ति के लालच को छोड़ना पड़ेगा। तो छोड़ना जरूरी है—इस बात को हम लोगों ने स्वीकार कर लिया। लेकिन अगला कदम जब मैं कहती हूँ, तो इसका मतलब है कि कदम उठाना है। आपकी दुर्बलताओं को मैंने अपने में देखा है और उनके साथ संघर्ष करके भी देखा है, उनको मिटाने के लिए अनेकों प्रकार के प्रश्न स्वामीजी महाराज से करके देखा है। मैं इस दुर्बलता को ऐसा नहीं मानती हूँ कि नहीं मिटेगी। इसलिए इसको स्वीकार करने में कोई लाज-शर्म की बात नहीं है और अगर है भी तो छिपाने से क्या फायदा?

अब इसको मिटाएँगे कैसे? तो मिटाने के दो तरीके हैं। जब मैंने सन्त के मुख से सुना कि अविनाशी जीवन होता है, तो मैंने कहा महाराज जी! होता है तो कैसे मिलता है, किसको मिलता है? महाराजजी ने बहुत ही मुक्त कण्ठ से कह दिया कि सबको मिलता है। तो थोड़ा धीरज हुआ। मैंने कहा कि सबको मिलता है, तो मेरा भी नम्बर आ सकता है। महाराजजी ने कहा कि जो आवश्यकता अनुभव करता है, उसको मिलता है। इस आधार पर मैं यह कह रही हूँ कि सचमुच जो हमारा अहम् रूपी अणु है वह एक यूनिट है, एक इकाई है, उसके भीतर वह सब कुछ है, जो हम लोगों को आवश्यकता के रूप में आज अनुभव हो रहा है। उसके भीतर सब कुछ है।

एक व्याख्यान में महाराजजी ने कहा कि भैया, अगर तुम शरीर की व्याख्या करोगे, विश्लेषण करोगे, तो उसमें संसार के अतिरिक्त और कुछ

नहीं मिलेगा और अगर तुम अपनी खोज करोगे, तो उसमें परमात्मा के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलेगा। दोनों तरह से कहा कि अगर अपनी खोज करोगे, तो अपने को परमात्मा में पाओगे। और अपना विश्लेषण करोगे, तो अपने में परमात्मा को पाओगे। उसके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। यह तो बहुत अच्छी बात है हम लोगों के लिए। अपनी खोज करोगे, तो अपने को परमात्मा में पाओगे। और कहीं नहीं। और अपना विश्लेषण करोगे, "मैं" का विश्लेषण करोगे, तो इसमें परमात्मा के अतिरिक्त और कुछ नहीं पाओगे। इस बात को मान लेना—जान लेने की बात तो थोड़े दिन बाद आएगी। लेकिन जाने हुए सन्तों ने, अनुभवीजनों ने यह वचन हम लोगों को सुनाया। इसको मानना अपने लिए बहुत ही हितकारी है।

कुछ दुर्बलताएँ हैं जो हम लोगों ने अपने भीतर पाल रखी हैं। उन दुर्बलताओं को मिटाने का पूरा पुरुषार्थ अपने को करना चाहिए आज से, अभी से। फिर जहाँ ऐसा लगे कि साहस नहीं हो रहा है, कैसे छोड़ें? तो ऐसे क्षणों में विश्वासीजन उस सर्व-समर्थ को ही पुकारते हैं। जैसे काँटों में फँसा हुआ बच्चा अपने को निकालने में असमर्थ पाकर चिल्लाना शुरु करता है, तो उसका रोना करुणामयी माँ से सहन नहीं होता है। बच्चा यह नहीं कहता कि माँ आओ-ऐसा कहने के लिए तो उसे होश ही नहीं है। वह केवल चीख रहा है, चिल्ला रहा है। बिना बुलाये माँ दौड़ कर जाती है, काँटों में हाथ डालती है और फँसे हुए बालक को निकालती है। देह के सम्बन्ध से मानी हुई माँ में वात्सल्य का जो बल है, उससे कहीं अधिक बल उन करुणा-सागर, जगत्-पिता और जगत्-जननी में है। साधक की असमर्थता की वेदना को वे सर्व-समर्थ सह नहीं सकते और तत्काल उबार लेते हैं।

प्रवचन 15

पूज्य सन्त महानुभाव, सत्संग प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो !

कल संध्या समय की बैठक में सबसे पहले करने योग्य पुरुषार्थ हम लोगों को यह बताया गया कि हमें अपने जीवन में से कामना-पूर्ति के सुख का लालच छोड़ देना चाहिए। यह सबसे पहली बात है। कामनाओं के बन्धन में बँधा हुआ व्यक्ति न समाज के काम आता है, न अपने काम आता है और न परमात्मा के प्रेम का पात्र बन सकता है। तीनों ही दृष्टियों से जीवन में घोर असफलता ही असफलता है। अत: अपने जीवन को सफल, सार्थक बनाने के लिए हम सभी भाई-बहनों के लिए आवश्यक बात यह है कि हम अपनी ओर देखना प्रारम्भ करें।

जब किसी प्रकार से हमारे भीतर शरीर तथा संसार के संयोग-जनित सुख भोगने की कामना नहीं रहेगी अथवा भोगे हुए सुखों की वासनाएँ नहीं रहेंगी, तो उसके बाद अपना जीवन इतना फ्री *(Free)* होगा, इतना हल्का होगा, इतना निश्चिन्त होगा, कि हम ठीक प्रकार से शरीर की, परिवार की, समाज एवं वृहत् जन-समूह की सेवा के योग्य बनेंगे। जो कुछ भी अपने लिए चाहते हैं, उनके द्वारा सेवा नहीं बनती है। "सेवा" शब्द का प्रयोग हम लोग खूब करते हैं। जहाँ कहीं सामूहिक कार्य में हाथ डाला, तो भाई, सेवा-कार्य में लगे हैं—ऐसा हम लोग कहते हैं। लेकिन जो इसके बदले में कुछ भी अपने लिए चाहता है, उसके द्वारा जो प्रवृत्ति हो रही है, वह सेवा नहीं हो रही है। दूसरी बहुत-सी बातें हो जाती हैं, जिससे समाज में स्थान भी मिल जाता है, उसके बदले में बहुत-सी सुविधाएँ भी मिल जाती हैं। लेकिन जिसके बदले में कुछ भी पाने की चाह भीतर रह गई है, उसका नाम सेवा नहीं है। जिसने अपने भीतर से निज-संकल्पों की पूर्ति का प्रलोभन छोड़ दिया, उसके द्वारा सेवा बनती है।

इस व्यक्तित्व में भौतिक तत्त्व भी हैं और अलौकिक तत्त्व भी हैं। शरीर की नश्वरता अपने द्वारा जानते हुए भी उसके प्रति आसक्ति हम नहीं छोड़ पाते हैं। उसका एक खास कारण यह है कि शरीर की सहायता से कहीं न कहीं किसी न किसी प्रकार का सुख लिया। उसका प्रभाव राग के रूप में अपने भीतर अंकित हो गया। 'राग' शब्द का अर्थ ही यह होता है कि बुराई को बुराई जानकर भी उसका त्याग न किया जाए। तो शरीर के प्रति आसक्ति रखना अच्छाई है, कि बुराई है? बुराई को बुराई करके हम लोग जानते हैं, फिर भी आसक्ति छोड़ना अभी तक सम्भव नहीं हुआ। अब जब यह बीमारी लगी ही हुई है, तो बीमारी का विश्लेषण करना ही जरूरी नहीं है, आरोग्य का उपाय ढूँढ़ना भी जरूरी है।

स्वामीजी महाराज ने सलाह दी कि कितने ही जन्मों का बना हुआ राग क्यों न हो, अगर इस समय वर्तमान में तुम्हें सूझ गया कि मुझे वीतराग होना है, रागरहित जीवन में ही अलौकिकता की अभिव्यक्ति होती है—इस उद्देश्य को सामने रखकर अगर तुमने अपने को साधक स्वीकार किया, तो तुम्हारे लिए एक बहुत ही सहज उपाय है कि निजी रूप से व्यक्तिगत सुख लेना बन्द करके शरीरों का सदुपयोग सेवा में आरम्भ कर दो।

जो साधकजन पर-पीड़ा से पीड़ित होकर दुखीजनों की सेवा में हाथ बँटाने लगते हैं, उनको अपने प्रलोभनों पर विजय पाने में कठिनाई नहीं होती। अपने दुःख के डर से अपने सुख को बनाए रखने के लिए अनेक प्रकार के उपाय हमने किए। उसमें बड़ा इन्टरेस्ट भी मालूम होता है। बड़ी रुचि और बड़ा उत्साह भी मालूम होता है। लेकिन उसका परिणाम यह नहीं हुआ कि हम आए हुए सुख को बचा कर रख सकें। वह तो किसी मंगलकारी विधान से रचा गया है, अपने आप आता है और अपने आप चला जाता है। वह लाभ तो हम लोगों को हुआ नहीं। लेकिन वीतराग होने का उद्देश्य लेकर के नया कोई राग पैदा करेंगे ही नहीं, नए सुख-भोग

की कामना रखेंगे नहीं और पुराने भोगे हुए सुखों के प्रभाव से जो विकार उत्पन्न हो गए हैं, उनके नाश के लिए दुखीजनों की, निकटवर्ती जनसमाज की क्रियात्मक सेवा एक बहुत ही अच्छा व्यावहारिक उपाय है, जो कि सभी भाई-बहन कर सकते हैं। ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि बड़ा औषधालय चलाएँगे, तब यह काम होगा, कि बड़ा विद्यालय खोलेंगे, कि बड़ी धर्मशाला बनाएँगे कि बहुत से प्रचार का काम करेंगे— तब यह बात बनेगी। ऐसा नहीं है। मानव-जीवन का मंगलमय विधान इतना मंगलकारी है, उसमें इतना साम्य है कि थोड़ी-से थोड़ी सामर्थ्य वाला व्यक्ति भी, अल्प से अल्प शक्ति जिसके पास बच गई है, वह भी यदि इसी उद्देश्य से सेवा-कार्य में हाथ डालेगा, तो बाहर से देखने में बहुत मामूली काम दिखाई देगा, लेकिन उसके परिणाम में उसको वही फल मिलेगा, जो बड़े से बड़ा सेवा-कार्य करने वाले को मिलता है ! ऐसा होता है, ऐसा हुआ है।

बड़े-बड़े महापुरुष जगत् में हुए हैं, जिन्होंने बहुत छोटी-छोटी सेवा का कार्य किया और महान् फल पाया। शबरीजी की कथा आप लोगों को मालूम ही है। सेवा से उनका चित्त शुद्ध हो गया था। क्या सेवा की थी उन्होंने ? सड़क को साफ किया था, कंकड़-पत्थर हटाया था। वन की सूखी लकड़ी तोड़-तोड़ कर रात्रि में गठरी बाँधकर ऋषि-मुनियों की कुटिया के बाहर रख आती थी। किसलिए ? कि ऋषि-मुनि जब सवेरे बाहर निकलेंगे और हवन करने के लिए उनको लकड़ी चाहिए, तो लकड़ी उनके पास हाजिर रहे। इतनी छोटी-छोटी सेवा उन्होंने की और उससे उनका चित्त इतना शुद्ध हो गया था कि जब उनके गुरु ने एक बात बताई, तो इस बात का उन पर बड़ा ही सजीव प्रभाव पड़ा। गुरु ने उनको बता दिया कि "शबरीजी, ! आप इसी आश्रम में रहिए। भगवान् जब वन में आएँगे, तो इसी आश्रम में आपको दर्शन देंगे।" गुरु की वाणी में इतनी गहरी आस्था

थी कि उसका ऐसा जोरदार प्रभाव हुआ कि उसी दिन से उनके भीतर एक बड़ी लगन लग गई—प्रभु आएँगे, प्रभु आएँगे, प्रभु आ रहे होंगे। तो उस लगन ने उनको परमात्मा से मिला दिया पहले, और साकार रूप में वन में विचरण करते हुए भगवान् पहुँचे उनके पास पीछे। ऐसा होता है। यह तो अपनी प्राचीन कथा है।

आज भी आधुनिक युग में भी ऐसे साधक हैं, जिनको जीवन में बहुत छोटी-छोटी सेवा का अवसर मिला और उस सेवा को उन्होंने इतनी तत्परता से, इतनी लगन से की कि उसी के आधार पर उनकी शरीर की आसक्ति बिल्कुल टूट गई। एक गृहस्थ महिला का उदाहरण दे रही हूँ। न गृह-त्यागी की बात कह रही हूँ, न आश्रमवासी की और न ही भगवद्भक्त की चर्चा कर रही हूँ। वह महिला अपने को इतना रैशनल (बुद्धिवादी) मानती थी कि जब-जब मैं उनको सूचना दूँ कि नगर में स्वामीजी महाराज आए हैं, सत्संग हो रहा है, आप चलिएगा? तो वे कहें कि देवकीजी! वह तो वैदिक युग था जबकि लोगों को रहने-सहने की किसी प्रकार की कोई तकलीफ नहीं थी। तब लोग, ऋषि-मुनि और दूसरे विद्वान लोग बैठ करके दार्शनिक चर्चा किया करते थे। आज का युग क्या ऐसी दार्शनिक चर्चा सुनने का है? उनको लगता था कि पेट भरने पर ही आदमी दार्शनिक चर्चा करता है। हमको ऐसा लगता था कि जब दुनियाँ की ओर से निराशा होती है, तो आदमी के भीतर ज्यादा चेतना जगती है। उनका सोचना दूसरा था। ऐसी महिला की बात मैं बता रही हूँ कि उन्होंने निष्काम सेवा की। उसका परिणाम यह हुआ कि वह अपने शरीर की आसक्ति से भी मुक्त हो गई। मृत्यु का भी भय उनको नहीं रहा। बहुत भयंकर ऐक्सीडेन्ट हुआ था उनका। सारे शरीर की जगह-जगह से सब हड्डियाँ टूट गई थीं। लेकिन न मरने का डर था और न जो उनके निकट सम्बन्धी उस ऐक्सीडेन्ट में मारे गए थे, उनके लिए रोया-गाया उन्होंने। यह सब कुछ नहीं। पूरी कर्त्तव्य-निष्ठा देखी हमने उनके जीवन में।

महाराजजी की वाणी को मैंने सत्य पाया कि यदि शरीर की आसक्ति को तोड़ना चाहते हैं हम लोग, शरीर के राग से मुक्त होना चाहते हैं, शान्ति-सम्पादन के द्वारा अशरीरी जीवन में प्रवेश पाना चाहते हैं, तो सुख-भोग की वासना को भीतर से निकाल कर, सेवा-कार्य में जुट जाना चाहिए। कार्यक्षमता जब तक शरीरों में बची हुई है, तब तक कुछ न कुछ सेवा कार्य के द्वारा उसका सदुपयोग करना आवश्यक है। यह बिल्कुल मंगलकारी विधायक की योजना है मनुष्य के लिए, कि जब उसके भीतर करने का राग नहीं रहता, तो उसके सामने कर्त्तव्य भी नहीं आता है। यह भी एक जरूरी बात है। हमारे बहुत से भाई-बहन ऐसे बैठे हैं, जो यह सोचते हैं कि गृहस्थी के काम में वे इतने फँसे हैं, इतने प्रकार के काम हैं उनके सामने कि सत्संग में जाने के लिए फुर्सत ही नहीं मिलती।

लेकिन भाई ! यदि सत्संग में जाने की आवश्यकता आपको मालूम होती है, तो सच मानिए, परिस्थिति आपकी बदल जाएगी। हमने सिर पर काम का भार लदा हुआ क्यों लगता है ? इसलिए कि हमने कर्त्तव्यनिष्ठा से काम पूरा नहीं किया। थोड़ा-सा कुछ किया और उसके बदले में ज्यादा लेने की इच्छा रखकर किया। इसलिए न काम पूरा हुआ, न करने का राग मिटा। जिस भी जनसमूह के भीतर रहे, उनकी मदद से अपने लिए किसी न किसी प्रकार के सुख-सम्पादन की चेष्टा में लगे रहे। निकटवर्ती जन-समुदाय की सेवा में शक्ति और समय खर्च नहीं किया। इसलिए करने का राग नहीं मिटा और अपने सामने दायित्व आ गया। मेरा ऐसा विश्वास बन गया है महाराजजी की वाणी को सुनने से और जीवन का अध्ययन करने से कि जब तक हम काम से जी चुराते रहेंगे, तब तक हमारे सामने से यह प्रवृत्ति का जाल कभी कटेगा नहीं। जिस किसी ने छोटी से छोटी सेवा प्रवृत्ति में भी पूरी शक्ति लगाकर निस्पृहतापूर्वक, लगन से, प्रेम पूर्वक काम करके अपने को वीतराग बना लिया, उसके सामने से यह परिस्थिति हट जाती है।

सुख-भोग की वासना को छोड़कर सेवा करने से राग-निवृत्ति होती है और राग-निवृत्ति की शान्ति में विचार का उदय होता है। विचारों के उदय होने से सत्-असत् के विभाजन की सामर्थ्य आती है। तो शरीरों से तादात्म्य टूट जाने से अशरीरी जीवन का आनन्दमय अनुभव मिलता है। सब कुछ भगवत्समर्पित करके, उनकी शरणागति को लेकर, उनकी कृपामयी गोद में विश्राम लेने से उनकी कृपा अपने को प्रेम का पात्र बनाकर उनके साथ रस का आदान-प्रदान कराती है।

किसी सेवा-प्रवृत्ति को सांगोपांग पूरा किया गया—इसका प्रमाण यह है कि अपने भीतर उस प्रवृत्ति में लगने की इच्छा खत्म हो गई। अपने लिए उसकी आवश्यकता पूरी हो गई। जब हम शान्त होने का अवसर निकालते हैं तो कुछ देर शान्त रहने के बाद कुछ प्रवृत्ति का स्फुरण होने लगता है और काम करने के नए-नए संकल्प आने लगते हैं। ये किस बात को दिखा रहे हैं? यह इस बात को दिखा रहे हैं कि अब तक जो हमने अपने को सेवा-प्रवृत्ति में लगाकर कुछ किया, उसके द्वारा राग-निवृत्ति नहीं हुई। अगर राग मिट गया होता, तो मेरी ही तरफ से प्रवृत्ति का स्फुरण नहीं होता।

श्री महाराजजी ने सन्त समागम ग्रन्थ में पाँच-सात वाक्य लिखाए हैं—सुनने वाले की प्रसन्नता के लिए बोलो, खिलाने वाले की प्रसन्नता के लिए भोजन ग्रहण करो, बुलाने वाले की प्रसन्नता के लिए जाओ। वीतराग पुरुषों की यही रीति होती है कि खिलाने वाले की प्रसन्नता के लिए खाओ। ऐसा नहीं कि हमारी रुचि के अनुसार यदि भोजन नहीं मिला, तो खिलाने वाले को डाँटो। ऐसा नहीं कि आपको सत्य की चर्चा करने में आनन्द आता है, लेकिन श्रोता कोई सुनने के लिए नहीं मिला या कि श्रोता की ओर से बहुत अच्छा भाव नहीं दिखाई दिया, तो अपने को मजा नहीं आ रहा है। क्यों नहीं आ रहा है? क्योंकि अपना सुख दूसरे पर आश्रित हो

गया। वक्ता होने का सुख अगर वक्ता ले रहा है तो उसका राग नहीं मिटेगा। और अगर बोलने से अधिक निष्ठा न बोलने में हो गई, काम करने से भी अधिक सजीवता मूक-सत्संग में हो गई, तो इसका अर्थ है, कि मैंने सही काम किया और करने का राग मिट गया।

तो पहला काम हुआ—कामनापूर्ति के सुख का त्याग। अब आप कहीं चले जाइए। कहीं योग की, ध्यान की क्लास हो रही है, कहीं भजन-कीर्तन हो रहा है, कहीं कथावाचन हो रहा है, कहीं कुछ हो रहा है—बहुत प्रकार की क्रियात्मक साधन-प्रणालियों का कार्यक्रम चल रहा है। सभी जगह आपको बड़ा-बड़ा जन-समूह दिखाई देगा। लेकिन अगर आप मानव हैं और आपने इस सत्य को पकड़ लिया है कि अपने भीतर से कामनापूर्ति के सुख का लालच निकाल देना है, किसी भी प्रकार से उसको प्रश्रय नहीं देना है, तो उस हालत में आप जिस किसी साधन-प्रणाली में लग जाएँगे, उसी से सिद्धि मिल जाएगी। आप जो भी करेंगे, उसी में आपकी निष्ठा बन जाएगी। लेकिन अगर अपनी ही कामना पूरी करनी है—"कामना" शब्द जरा छोटा है—कहें कि अगर अपना ही संकल्प पूरा करना है, तो दुनिया में कहीं भी चले जाओ, किसी भी सिद्ध महापुरुष के पास जाकर के बैठ जाओ और किसी से भी कृपा दृष्टि माँगते रहो, अगर अपने संकल्प की पूर्ति ही आपको अभीष्ट है, तो कोई साधन-पद्धति आपका साथ नहीं दे सकती।

स्वामीजी महाराज कहते हैं कि एक गुरु की तो कौन कहे, तुम सारे संसार के सब गुरुओं को इकट्ठा कर लो। लेकिन यदि तुम अपने दायित्व को पूरा नहीं करोगे, तो कोई भी तुम्हारी मदद नहीं कर सकेगा—यह खास बात है। जो क्रियात्मक साधना है वह हर व्यक्ति की अलग-अलग हो सकती है, हर सम्प्रदाय, मत, विचार की अलग-अलग हो सकती है। लेकिन जो त्याज्य है, जिसका त्याग करना है, जो नहीं करना चाहिए, उसमें

मानवमात्र एक समान है। संकल्प को—अपने निजी संकल्प को पूरा करने के सुख का लालच ही त्याज्य है। उसी का त्याग करना चाहिए। तो अपना संकल्प हम नहीं रखेंगे—इस बात को मानने के लिए सबको तैयार होना पड़ेगा।

मानव-सेवा-संघ कोई पुराना पंथ नहीं है, कोई नया मत या सम्प्रदाय नहीं है, अपितु जो सनातन सत्य है, जो मनुष्य के जीवन का वैज्ञानिक, दार्शनिक और आस्तिकता का सत्य है, उसी को यह आपके सामने मौलिक रूप में प्रस्तुत कर रहा है। भ्रम में मत रहना। संकल्पों को छोड़ना है। कामना-पूर्ति-अपूर्ति के सुख-दुःख का प्रभाव आपने खूब देख लिया है। फिर भी कोई गुन्जाइश है? कुछ दिन और आप कामनाओं को रखना चाहते हैं, तो भले ही रखो। लेकिन संकल्पों के रहते हुए शान्ति-मुक्ति-भक्ति जैसे अविनाशी, अनमोल तत्त्वों का दर्शन नहीं हो सकता।

अगर आपको शान्ति चाहिए, तो पुरुषार्थ करना ही पड़ेगा। क्या पुरुषार्थ करना पड़ेगा? अपनी सामर्थ्य के अनुसार छोटी या बड़ी—जैसी भी बन पड़े—सेवा करना तथा कामनापूर्ति के सुख का लालच छोड़ना अर्थात् निजी-सुख के संकल्पों का त्याग करना। अब आप कहेंगे कि आप घर-परिवार वाले हैं, कहीं बच्चों की पढ़ाई का खर्चा है, तो कहीं बेटा-बेटी के विवाह की जिम्मेदारी है। कहीं अच्छे मकान की और अन्य सुख-सुविधाओं की चिन्ता है। इन सब चिन्ताओं से मुक्त होने के लिए आपको धन कमाने और संग्रह करने के साधन जुटाने पड़ते हैं। लेकिन परेशानी तब भी नहीं जाती है।

महाराजजी कहते हैं कि भैया $\frac{3}{4}$ का $\frac{75}{100}$ करते चले जाओ, मूल्य में कोई अन्तर नहीं होगा। बेचैनी ज्यों की त्यों रहेगी। अन्तर कब आएगा? जब उसको बढ़ाने की चिन्ता को तुम छोड़ दोगे जितना तुम्हारे पास

है, उसका सदुपयोग आरम्भ करो, तो प्रकृति का विधान ऐसा है, परमात्मा का विधान ऐसा है कि आपकी उदारता से प्रसन्न होकर इतना बरसा देते हैं, इतना बरसा देते हैं कि जितने की आप कल्पना भी नहीं कर सकते। इसलिए वृद्धि की चिन्ता छोड़ दो। आ जाए अपने पास, तो जल्दी से जल्दी, जिसने दिया है उसके परिवार की सेवा में लग जाए—इस बात को सोचो। बहुत अच्छा लगेगा, बड़ा आराम मिलेगा।

अगर सचमुच आपके हाथ से प्राप्त सम्पत्ति का सदुपयोग होने लग जाएगा, तो प्रकृति की उदारता का दरवाजा बहुत चौड़ा हो जाएगा। लेकिन यदि संग्रह का दोष पैदा हो जाएगा, व्यक्तिगत सुख की बात सोचकर अपने लिए बचा करके रखने की बात आ जाएगी दृष्टि में, तो उधर से भी संकीर्णता हो जाएगी। दरवाजा बन्द नहीं होता। हर हालत में उधर से मिलता ही रहता है, लेकिन संकीर्णता जरूर हो जाएगी। सो सावधान होकर जो मिला है, उसको सेवा-कार्य में लगाने का प्रयास करो, छोटा ही सही। एक व्यक्ति, दो व्यक्ति, पाँच-दस व्यक्ति की, जैसा सम्भव हो, सेवा करो। हमारी भारतीय संस्कृति में एक से अनेक—यानि विस्तार करने की बड़ी अच्छी सामाजिक व्यवस्था है। उस सामाजिक व्यवस्था के भीतर ही उस पारिवारिक और कौटुम्बिक रिश्तेदारी के क्षेत्र के भीतर ही देखिए, कितने लोग आपकी सेवा और सहयोग के अधिकारी हैं? उनके दुःख की ओर दृष्टि न देना और अधिक से अधिक अपने पास सम्हाल कर रखने की चेष्टा करना गृहस्थ-धर्म के विरुद्ध है। और अगर गृहस्थ-धर्म का पालन नहीं करते हो, तो समाधि का आनन्द मिल जाए—यह सम्भव नहीं है। ध्यान लग जाए—यह सम्भव नहीं है, भजन बन जाए—यह भी सम्भव नहीं है। अगर मानव-हृदय की सद्भावना चाहिए, मानव-हृदय की प्रसन्नता चाहिए, तो मानव-हृदय के ताप को शीतल करने में उस जीवन की आहुति देने में अपना सौभाग्य मानना चाहिए।

सेवा का कार्य जो है वह किसी पर अहसान नहीं है। हम बड़े कार्यकर्त्ता हैं, हमारे द्वारा बड़ी सेवा बन रही है, सब लोगों को हमारा अहसान मानना चाहिए—यदि ऐसा भाव आ जाए तो घोर पतन की बात हो जाएगी। मैं तो अपने साथ काम करने वाले सभी भाई-बहनों से कहती हूँ कि अरे भाई, तुम अपना सौभाग्य मानो, प्रभु की विशेष कृपा मानो कि उन्होंने अपने इतने बड़े वृहत-ब्रह्माण्ड के कार्य में एक छोटी-सी जगह पर तुम को कहीं फिट तो किया है। बड़ी भारी मशीनरी है, जिसके द्वारा अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों का संचालन हो रहा है, उस अनन्त शक्तिमान ने अपने संसार के कार्य में एक छोटी-सी कील बनाकर तुमको कहीं फिट कर दिया है, तो तुम प्रभु की कृपा मानो और चेष्टा करो कि तुम्हारे पास जो भी बची-खुची शक्ति-सामर्थ्य है, वह उस सेवा-कार्य में लग जाए। तब समझो कि तुम्हारा उद्धार हो जाएगा, कल्याण हो जाएगा। यह सेवा की बात हो गई। इतनी तैयारी जिसकी हो जाएगी, उसको प्रभु-प्रेम का पात्र बनने में कोई कठिनाई नहीं होगी।

प्रवचन 16

सत्संग प्रेमी माताओ, बहनो एवं भाइयो !

साधन-युक्त जीवन का अर्थ क्या है ? इसके लिए मानव सेवा संघ की प्रणाली में एक क्रम बताया गया है। बुराई-रहित होना—साधन है। ईश्वर-विश्वास के आधार पर उनकी आत्मीयता को स्वीकार करना, आत्मीयता के सम्बन्ध के द्वारा उनके प्रति प्रियता का उदित होना—यह भजन है। प्रभु के नाते उनकी बनाई हुई सृष्टि के प्रति सद्भाव रखना, सहयोग करना, यथाशक्ति क्रियात्मक सेवा करना, प्यारे प्रभु की प्रसन्नता के लिए दृश्य जगत की सेवा—यह पूजन है। साधन, भजन, पूजन के द्वारा व्यक्ति के व्यक्तित्व में शुद्धता आती है, सुन्दरता और कोमलता आती है। ये व्यक्तित्व को इस योग्य बनाते हैं कि उसमें परम प्रेम की सरसता आवे। व्यक्तित्व जब सरस होता है—प्रेमस्वरूप परमात्मा के प्रेम रस से साधक का व्यक्तित्व जब सरस होता है, तो उस रसरूप से अभिन्नता होती है। प्रेमरस होकर प्रेमीजन प्रेमास्पद से मिलते हैं, अभिन्न होते हैं—यह प्रभु मिलन है।

इस प्रकार हम सभी भाई-बहनों को जीवन का एक क्रम अपने सामने रखना चाहिए। बहुत ही स्पष्ट रूप से हम लोगों को यह जानना चाहिए कि अहंरूपी अणु में ही वे सब अलौकिक तत्त्व विद्यमान हैं कि जिनकी आज हम लोग माँग अनुभव करते हैं और कल उनकी पूर्ति के आधार पर अपने को पूर्ण पाएँगे।

जब कभी आपके भीतर लालसा जगे, यह अभिलाषा बने कि मैं मनुष्य हूँ, तो मुझमें अविनाशी तत्त्वों की अभिव्यक्ति होनी चाहिए अर्थात् नाशवान का प्रभाव मुझ पर से उतर जाना चाहिए। तो उस समय अपनी वास्तविक दशा को अपने सामने रखते हुए जीवन के सत्य पर विचार

करना चाहिए। वास्तव में नाशवान का प्रभाव ही हम पर अधिक होता है। किसी संगी-साथी, निकटवर्ती जनसमुदाय के मुख से अपने समर्थन और अपनी प्रशंसा के शब्द सुनकर अपने को अच्छा लगता है। भले ही उसके वश में होकर आप मनुष्यता के स्टैण्डर्ड से नीचे उतरें—यह दूसरी बात है।

मैं बहुत ही सूक्ष्म विवेचन अहं का रख रही हूँ। किसी ने मेरे किसी किए हुए कार्य की आलोचना कर दी, कुछ अप्रिय शब्द कह दिए, तो सुनकर भीतर कुछ क्षोभ पैदा हुआ। सज्जनता के नाते मैंने प्रकट नहीं किया, साधक होने के नाते मैंने प्रतिक्रिया नहीं की—साधक होने के नाते हम उस आलोचना या अप्रिय शब्द की प्रतिक्रिया नहीं करेंगे, फिर भी अगर भीतर जरा-सा भी अप्रिय लगा, कुछ क्षोभ हुआ, तो इसका अर्थ क्या है? कि नाशवान का प्रभाव अभी भी अपने पर है। नहीं तो क्षोभ क्यों होता? सीमित अहंभाव का पोषण अभी भी मुझको पसन्द है। सीमित अहंभाव का पोषण जब तक अपने को अच्छा लगता है तब तक उस असीम, अनन्त की प्रियता इस जीवन में कैसे लहरायेगी?

रहन-सहन की सुविधा में असुविधा पैदा हो जाना, जिन कुटुम्बियों के बीच में हम रहते हैं, निकटवर्ती जन-समुदाय के बीच में रहते हैं, उनका विपरीत हो जाना प्रतिकूलता है। प्रतिकूलता अपने को बुरी लगती है। अनुकूलता अच्छी लगती है। जो सुविधाएँ प्राप्त हैं, उनके हट जाने का मन में कुछ भय और चिन्ता है और जो अनुकूलताएँ आने वाली हैं, उनका चित्र देखकर प्रसन्नता होती है। इस प्रकार अगर अनुकूलता और प्रतिकूलता का प्रभाव अपने पर होता है, तो इसका अर्थ है कि अभी नाशवान का प्रभाव अपने पर है। लेकिन होना क्या चाहिए? अविनाशी का प्रभाव।

जो सदा-सदा से है, जो सदा-सदा तक रहेगा, उसका प्रभाव अपने पर होना चाहिए। लेकिन हम देखते हैं कि नाशवान के प्रभाव में पड़कर चौबीस घण्टे का समय भी हमारा सन्तुलन में नहीं बीत रहा है। चौबीस घण्टे का समय भी सन्तुलन में नहीं बीतता है। कुछ अधिक अनुकूलता सामने आ गई, तो उसके संयोग से सन्तुलन बिगड़ गया। और कुछ प्रतिकूलता सामने आ गई, तो उसके प्रभाव में भी संतुलन बिगड़ गया। तो क्या इस तरह से बनने और बिगड़ने वाली सुखद और दुःखद लहरियों में हम गोते लगाते रहेंगे? कभी सुख का, कभी दुःख का आक्रमण अपने पर होता है। दुःख के आक्रमण को तो आप सभी बड़े जोर से जानते हैं, लेकिन सुख का आक्रमण उससे कम खतरनाक नहीं होता। सुख का आक्रमण भी बड़े जोर का होता है। तो मनुष्य होकर, सचेत होकर, साधक कोटि के होकर अविनाशी जीवन के जिज्ञासु होकर और अनन्त परमात्मा के परम प्रेम के रस के अभिलाषी होकर, कब तक सुख-दुःख के आक्रमणों से आक्रान्त होते रहेंगे? ऐसा प्रश्न हम सभी भाई-बहनों को अपने द्वारा अकेले में बैठ करके अपने से पूछना चाहिए कि हम गीत गाते हैं अविनाशी के, चर्चा करते हैं अविनाशी की, तो क्या सचमुच हम अपने को मिलाते हैं उस आनन्द-स्वरूप से?

अब दो ही बातें रहीं अपने सामने—या तो अविनाशी जीवन के जिज्ञासु होकर अनन्त परमात्मा के परम प्रेम के रस में डूब जाओ या फिर दृश्य जगत् के प्रभाव से प्रभावित होकर सुख-दुःख के संक्षोभ में डूबते-उतराते रहो। मनोविज्ञान में संक्षोभ शब्द का एक अर्थ तो यह है—क्षुब्ध होना, यहाँ क्षुब्ध होने से मेरा मतलब नहीं है। संक्षोभ कहते हैं उस भाव को जो किसी प्रकार की उत्तेजना पैदा करे। सुखद परिस्थितियाँ की संक्षोभ पैदा करती हैं और दुःखद परिस्थितियाँ भी संक्षोभ पैदा करती हैं। किसी भी प्रकार से जब तक दृश्य जगत् के प्रभाव से प्रभावित हम

रहेंगे और अनुकूलता के द्वारा अहम्भाव को पोषित करते रहेंगे, प्रतिकूलता से क्षुब्ध होते रहेंगे, परमात्मा के दिए हुए समय, शक्ति, सामग्री, शरीर, साथी—इनके संयोग का सुख भोगते रहेंगे, तब तक उस अहम् भाव की सीमा टूट नहीं सकती। अहम् के अभिमानी में वह कोमलता आ ही नहीं सकती, जिसमें वह प्रेम-रस द्रवित होता है। इस सीमित अहंभाव के बने रहने के काल में उस असीम अनन्त के साथ अभिन्न होने का आनन्द आ ही नहीं सकता। तो आरम्भ कहाँ से करें?

हम सभी भाई-बहनों को पीछे की बात को तो केवल इतना ही अर्थ देना चाहिए कि उससे हम अपने लिए पाठ ले लें। लेकिन आगे बढ़ने की घड़ी अभी है, वर्तमान में। इसी वर्तमान क्षण में अकेले हो करके अपने से पूछ कर देखो तो, कि अपने में अलौकिक तत्त्व विद्यमान हैं, आनन्दस्वरूप, प्रेमस्वरूप परमात्मा विद्यमान है और उनके विद्यमान रहते हुए अपनी दशा क्या है? कि भीतर-भीतर अभाव सताता है और उस अभाव से जब अपने भीतर दीनता आती है, तो बाहर-बाहर से सद्गुणों के आधार पर, पद के आधार पर हम लोग अहम् का शृंगार करते रहते हैं—मैं बड़ा बलवान, मैं बड़ा पदवान, मैं बड़ा समाज-सेवी, मैं बड़ा जपी, मैं बड़ा तपी, मैं बड़ा त्यागी, मैं बड़ा अध्ययनशील। अध्ययनशीलता का भी एक शृंगार अपना लेता है व्यक्ति।

कुछ वर्ष पूर्व मुझे एक सज्जन मिले थे। समाज के प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। 80 वर्ष से कुछ ज्यादा ही उम्र के होंगे। बड़े प्रेम से मिले और मिल करके अपनी बात जो उन्होंने बताई तो कहा कि इतनी उम्र हो गई, अभी भी मेरा कार्यक्रम ऐसा चलता है कि चौबीस घण्टे में से कम से कम आठ घण्टे मैं अध्ययन में लगाता हूँ। वे सज्जन पण्डित थे, विद्वान थे और शास्त्रज्ञ थे। उनकी बात सुनकर भीतर-भीतर मैंने सोचा कि यह वृद्ध 80 वर्ष के हो गए, अभी भी इनको आठ घण्टे अध्ययन करने की आवश्यकता

महसूस होती है, तो इतने दिनों तक जो सारा अध्ययन इन्होंने किया वह कब काम आयेगा ? मुझे ऐसा लगा कि अध्ययन भी एक व्यसन हो गया। कब तक चलेगा यह ?

कितना सूक्ष्म और सहज स्वाभाविक है कि अभी-अभी अगर मैं शरीरों के साथ अपने को मिला के बैठ जाऊँ, तो नाशवान के प्रभाव से इतनी प्रभावित हो जाऊँ, सुख-दुःख के आक्रमण से इतनी आक्रान्त हो जाऊँ कि अपने सच्चिदानन्द स्वरूप का कहीं पता ही नहीं चले—ऐसी दुर्दशा है। और अगर सत्संग के प्रकाश में, सद्ग्रन्थों के प्रकाश में सन्त महापुरुषों के सम्पर्क से उनके वचनों के प्रकाश में अपने को नाशवान के प्रभाव से मुक्त करना पसन्द कर लूँ, तो ऐसा लगता है कि यह सारा जैसे भ्रम ही भ्रम था। और मिटा तो कहाँ गया और कब मिटा, पहले क्या था ? सब एक साथ ऐसे उड़ जाता है कि सचमुच जो है उसके प्रकाश में न "मैं" और न "तुम", न स्थान और न काल का कोई निशान रह जाता है। वहाँ न दुःख है, न अभाव है, न मृत्यु है। कुछ नहीं है ! तो वस्तुतः जो "है" उसी को प्रधानता देनी चाहिए। अगर उसको प्रधानता दे दें, तो आप अपने में निर्भय और निश्चिन्त हो जाएँगे और आपके निर्भय, निश्चिन्त, ज्ञानयुक्त, सेवापरायण, प्रेम के सरस व्यक्तित्व के द्वारा इस दृश्य जगत् का भी कल्याण हो जाएगा।

आज इस संध्या की बैठक में यह एक प्रश्न अपने भाई-बहनों के सामने मैं रख रही हूँ और निवेदन कर रही हूँ कि इस विषय पर विचार करें कि जिन्दगी का इतना लम्बा समय नाशवान के प्रभाव में बिताया या अविनाशी के प्रभाव में निश्चिन्त और निर्भय आनन्द में ? यह प्रश्न इसलिए रख रही हूँ आपके सामने कि जब साधक के लिए कोई प्रश्न खड़ा होता है, तो उसके सही उत्तर के लिए और सही दिशा निर्धारित करने के लिए उसके भीतर तत्परता आ जाती है।

यदि हमने स्वेच्छा से नाशवान के प्रभाव को अपने पर होने दिया, तो यह हमारा ही निश्चय होगा कि अब इसके प्रभाव को अपने पर नहीं होने देंगे। प्रधानता हमारी-आपकी है। सद्ग्रन्थों में सब अच्छी बातें लिखी हुई हैं लेकिन वे अच्छी बातें ग्रन्थों के काम आती हैं कि पढ़ने वाले जीवित जाग्रत मनुष्यों के काम आती हैं? मनुष्यों के ही काम आती हैं न ! तो सद्ग्रन्थों में अविनाशी जीवन की अभिव्यक्ति के लिए जो उपाय लिखे गए हैं वे उस सचेत मनुष्य के लिए हैं जो नाशवान के प्रभाव में पड़कर अनेक संकटों से घिरा हुआ है और जो अविनाशी के प्रभाव को अपना कर सब प्रकार के संकटों से मुक्त होना चाहता है।

आज का हमारा पुरुषार्थ क्या है? यह मैं इसलिए याद दिला रही हूँ कि जब बैठकर सत्य की चर्चा करते हैं तो शान्ति का बड़ा महत्त्व मालूम होता है, जीवन-मुक्ति का बड़ा महत्त्व मालूम होता है, भगवत्-भक्ति का बड़ा महत्त्व मालूम होता है और जब सत्संग का प्रोग्राम, सत्चर्चा का प्रोग्राम पूरा हो गया और जब दूसरे काम में लग गए तो उस समय अपने व्यक्तियों के साथ जिस प्रकार व्यवहार करने लगे, तो उस समय अपने में एक बार झाँककर देखो तो, कि हम शान्ति का महत्त्व लेकर बातचीत कर रहे हैं, मुक्ति और भक्ति का महत्त्व लेकर दूसरों से मिलने में सावधान हैं हम? क्या-क्या बातें साधकों के मुख से सुनते हैं कि अरे भाई, व्यवहार तो व्यवहार है। यहाँ तो ऐसे करना ही पड़ेगा। अच्छा, तो प्रधानता किस की रही। यहाँ इस भवन में बैठकर जिस सत्य की चर्चा हो रही है उसकी प्रधानता रही कि नाशवान की प्रधानता रही? किसी व्यक्ति को अपनी ओर मुखातिब बनाए रखने के लिए उल्टा-सीधा हम कर रहे हैं, तो हमारे दिल में आता है कि आदमी क्यों नहीं सोचता है कि कोई व्यक्ति कितना भी प्रसन्न हो जाएगा तो मुझे क्या दे देगा? जो कुछ व्यक्ति को देगा वह नाशवान ही तो होगा।

साधक होकर इतने घण्टे ध्यान लगाया कि नहीं, इतनी संख्या में अपने इष्ट के नाम का जप किया कि नहीं, इन बातों पर तो जोर लगता है

अपनी ओर से, लेकिन चौबीस घण्टों के जीवन में उठते-बैठते, चलते-फिरते, खाते-पीते, लेते-देते अविनाशी का प्रभाव अपने पर है—इस प्रकाश में हम व्यवहार कर रहे हैं या नाशवान के प्रभाव से प्रभावित होकर व्यवहार कर रहे हैं? जब ऐसी चर्चा महाराजजी करते तो कुछ लोग कहते कि आपके यहाँ केवल सिद्धान्त की बात है प्रैक्टिकल कुछ नहीं है। तो प्रैक्टिकल का अर्थ क्या है? कि सबको बैठा दिया जाए, दो-चार घण्टों के लिए कुछ पाठ पकड़ा दिया जाए, कुछ क्रिया पकड़ा दी जाए, कुछ अभ्यास पकड़ा दिया जाए? मैं कहती हूँ कि नाशवान के प्रभाव से अपने को मुक्त करना, अविनाशी के महत्त्व को सब समय अपने सामने रखना, जीवन में इसको धारण करना, उसकी अभिव्यक्ति के लिए सब समय सावधान रहना—यह व्यावहारिक नहीं है, तो क्या है? इस व्यावहारिक साधना के बिना वह क्रियात्मक साधना आपके काम आ जाएगी? जीवन में तो रखे रहो नाशवान का प्रभाव और शान्ति भी मिल जाए, भजन-पूजन भी बन जाए—यह सम्भव नहीं है। जो सम्भव नहीं उस पर हमारा ध्यान जाता है और जो जीवन देने वाली बात है उसको हम सिद्धान्त कह कर एक किनारे रख दें। तो इसी का यह परिणाम है कि साधकों के भीतर सजीवता नहीं आती, आधे-अधूरे मन से भगवान् का नाम लेते हैं।

अविनाशी जीवन की अभिव्यक्ति के लिए असत् के प्रभाव को अपने पर से उतारे बिना काम नहीं चलेगा। उसके लिए पहली बात है—संकल्प-पूर्ति के सुख के प्रलोभन का त्याग। दूसरी बात यह है कि जब अपने संकल्प-पूर्ति के सुख के लिए कुछ करना ही नहीं है, तो करने की सामग्री जो मिली है, उसे निकटवर्ती जनसमुदाय की सेवा में लगाओ। तीसरी बात क्या है कि प्रातःकाल, दोपहर को, संध्या, आधी रात को जिस समय अवसर मिले उसी समय थोड़ी देर के लिए अकेले हो जाओ। फिर अपने को देखकर पूछो कि जो आपका कार्यक्रम चल रहा है उसमें नाशवान के प्रभाव की प्रधानता है कि अविनाशी की प्रधानता है? सोचकर देखो और जहाँ-जहाँ आपको ऐसा लगे कि यह काम तो जगत् के प्रभाव से

प्रभावित होकर किया तो तुरन्त ही चेतना आयेगी, तुरन्त ही आपके भीतर से बल आएगा कि नहीं। नहीं, ऐसा नहीं करना है। यह नहीं होना चाहिए। इससे बड़ा आराम मिलता है, बड़ी शान्ति मिलती है। आप प्रयोग करके देखिए।

इस सत्य के प्रयोग से जीवन में इतनी सुन्दरता आती है कि बाहर से किसी तरह की मदद लेने की आवश्यकता ही नहीं होती। इस व्यक्तित्व को आज धन का लोभ, तन का मोह, पद का अभिमान, सम्मान की वासना गन्दा करके रखे हुए है। कहाँ-कहाँ हम दरिद्र और अपमानित होकर फिरते हैं और ऊपर से ढकते रहते हैं, छिपाते रहते हैं, नीरसता से पीड़ित रहते हैं और बाहर-बाहर रस की खोज करते फिरते हैं। बड़ी दुर्गति कर लेते हैं हम अपने हाथ से स्वयं अपने व्यक्तित्व की। लेकिन सत्संग के प्रकाश में, सन्त महापुरुषों के सम्पर्क में, सद्ग्रन्थों के वाक्यों में निष्ठा रखकर जब सत्य की अभिव्यक्ति की ओर चलते हैं, तो जल्दी ही विकारों से मुक्त हो जाते हैं। देखिए, कितनी सहज बात है कि जिसने हमें बनाया, उसने अपनी ही धातु से हमें बनाया। इस व्यक्तित्व के मूल में जो जीवन तत्त्व है वह अविनाशी है, उसका नाश नहीं होता। मृत्यु जो होती है उसमें स्थूल शरीर नष्ट होता है। उसके आगे और कोई चीज मृत्यु के प्रभाव से नष्ट नहीं होती। तो जीवन के मूल में अविनाशी तत्त्व है और उसी के आधार पर हम लोगों के भीतर अविनाशी जीवन की जिज्ञासा भी रहती है और उसकी आवश्यकता भी हम लोग अनुभव करते हैं। तो जो सत्य है, सनातन है, दुःख-रहित है, मृत्यु-रहित है, अभाव-रहित है, उसका प्रभाव जोरदार होना चाहिए। अगर उस प्रभाव को ग्रहण करना कठिन मान लेंगे, तो फिर कभी भी उस ओर आगे बढ़ने की तत्परता जीवन में आएगी ही नहीं। यह अहं का ही तो खेल है। यह "मैं" पन का ही सब चमत्कार है कि जिससे मिला लो उसी के समान हो जाए।

एक बड़ा अच्छा उदाहरण है। एक म्यूजिक कन्सर्ट हो रहा था। अनेक व्यक्ति अनेक प्रकार के वाद्ययन्त्र लेकर बैठे थे। एक व्यक्ति उसमें

छोटा-सा टेढ़ा-मेढ़ा लकड़ी का टुकड़ा, लेकर बैठा था और जब सब लोग बजाते थे तो वह भी लकड़ी पर अँगुली फेरता था। कार्यक्रम पूरा हो जाने पर किसी ने पूछा कि भाई, यह कौन-सा यन्त्र है? उसने कहा कि इसका नाम है मिल बाजा। इससे राग कौन-सा निकलता है? तो उसने कहा कि इसका अपना कोई राग नहीं। जिस यन्त्र के साथ इसको मिला दो उसी का राग इसमें से निकलता है। तो अपना जो अहम् है, मैं-पन है, उसका एकदम यही हाल है। यह भी एक मिल बाजा है। अगर इसको असत् के साथ मिला दो— मैं शरीर हूँ, शरीर मेरा है, यह वस्तु मेरी है, यह मकान मेरा है—तो मैं और मेरेपन से असत् की ध्वनि इसमें से निकलने लगती है। और सचेत होकर विचारक बनकर सत्-असत् का विवेचन करके, सत्संग के प्रकाश में जाने हुए असत् के त्याग का पुरुषार्थ कर डालो, तो अहम् सत् से मिल जाता है और सत् की ध्वनि उसमें से निकलने लगती है—मैं परम शान्त हूँ, अमर आत्मा सच्चिदानन्द मैं हूँ।

मैं आज इस बैठक में इतनी-सी बात याद दिलाना चाहती हूँ कि हमारा आपका जो जन्म हुआ है इस धरती पर, तो सृष्टिकर्ता हम लोगों को सम्हाल कर रख रहे हैं। इन सारी बातों की सार्थकता इसमें है, कि हम निज विवेक के प्रकाश का सदुपयोग करें और नाशवान के प्रभाव को अपने पर से मिटाकर अविनाशी के प्रभाव को महत्त्व दें—तो यहाँ से हमारा साधन-युक्त जीवन आरम्भ होगा। आप शान्ति को महत्त्व देंगे, जीवन मुक्ति को महत्त्व देंगे, भगवत्-भक्ति को महत्त्व देंगे, आपके भीतर इन अविनाशी तत्त्वों के प्रति महत्त्वबुद्धि अगर पैदा हो गई, तो फिर अपने विकारों को मिटाने के लिए आपको प्रयास और संघर्ष नहीं करना पड़ेगा। धन का लोभ भीतर बना रहे और निश्चिन्त रहने की चेष्टा करो तो मस्तिष्क में उठने वाले चिन्तन को अभ्यास करने से, चेष्टा करने से कुछ देर के लिए रोक सकते हैं, लेकिन उसका नाश नहीं होगा। कुछ देर के बाद वह फिर अपना रंग दिखाएगा।

स्वामीजी महाराज ने हम लोगों को सलाह दी कि तुम्हारे में इतनी सामर्थ्य है कि तुम अगर चाहो, तो जिस क्षण चाहो, उसी क्षण में "नहीं" को "नहीं" कह करके अस्वीकार कर सकते हो। तो अपनी ओर देखना, अविनाशी जीवन की आवश्यकता को अनुभव करना—हमारा पुरुषार्थ है और उसकी पूर्ति का सारा प्रबन्ध जुटाना-यह जीवनदाता का दायित्व है। अपना दायित्व वे बहुत अच्छी तरह से निभाते हैं।

पहले-पहले जब मुझे मालूम हुआ कि मैं अपनी भूल के परिणाम में फँसी हुई हूँ, तो सोचा कि इसको मिटाने के लिए पुरुषार्थ करना चाहिए। तो थोड़ी मैंने अपनी ओर से चेष्टा की। बहुत अच्छी तरह से याद है, शरीरों के साथ मिल-मिल कर रहते-रहते, यह भ्रम इतने जोर का पक्का हो जाता है कि सोचने की कोशिश करो—कि यह शरीर "मैं" नहीं हूँ, इस शरीर में मैं नहीं हूँ, यह शरीर मेरा नहीं है— यह तो सोचना किसी तरह से भीतर बैठता ही नहीं था। ऐसा लगता कि यही तो है। ऐसी जब कठिनाई मुझको होने लगी, तो मैंने स्वामीजी महाराज को बताया कि महाराज, आप जो कहते हैं, वह सत्य मालूम होता है, इसमें मुझको सन्देह नहीं होता। जैसा आप कहते हैं वैसा करने का मुझे शौक भी है, चाहती भी हूँ कि प्रयोग कर देख लूँ, लेकिन ऐसे कुछ हमसे हो नहीं रहा है। बड़ा अद्‌भुत लगता है, कि न जाने कौन-सा फार्मूला स्वामी जी महाराज बोल रहे हैं, जो हमारे भीतर बैठता ही नहीं है। इस पर उन्होंने अच्छी तरह इस बात को बताया, कि भाई ! देखो, उस सत्य को पकड़े रहना और उससे अभिन्न होने की आवश्यकता अनुभव करना—जीवन के लक्ष्य के रूप में रखो और जितनी तुम्हारी सामर्थ्य बच गई है, उसका सदुपयोग करो। अविनाशी जीवन से अभिन्न कराने का सारा दायित्व उस जीवनदाता ने, उस समर्थ स्वामी ने मनुष्य के दुर्बल कन्धों पर नहीं डाला है।

दुर्बलताओं से घिरा हुआ व्यक्ति अपने प्रयास से, अपनी ओर से चेष्टा में लगा हुआ है। तो जितनी सामर्थ्य उसके पास है, उतनी ही चेष्टा उससे अपेक्षित है ! कितनी बड़ी बात है ! तो प्रयास कर लो अपनी ओर से और उसके बाद उस सामर्थ्यवान की शरण में, उस परम-कृपालु की कृपा में आराम करो। कैसे ? कि अब मेरे लिए करणीय कुछ भी शेष नहीं है। तो प्रयत्न चला गया न ! अहम् का स्फुरण बन्द हो गया। स्फुरण बन्द हो गया तो वह गलने लगा, खत्म होने लगा और उसके साथ जिस साधक ने कृपा-शक्ति का आश्रय लिया, उसको उन कृपालु की कृपा शक्ति स्वयं ही जाल में से निकालती है, उसकी दुर्बलताओं को मिटाती है, उसकी मलिनताओं को धोकर के साफ करती है, प्रभु के प्रेम का पात्र बनाती है। तो वह प्रक्रिया बड़ी ही आरामदेह है। साधक अपनी ओर से जब हारने लगता है, तो जिताने वाले को मजा आता है। बहुत आनन्द की बात है। एक बार दृढ़तापूर्वक उस लक्ष्य को दृष्टि में रख करके आप उसमें लग जाएँ, बस।

●

प्रवचन 17

पूज्य सन्त महानुभाव, सत्संगप्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो !

मानव-सेवा-संघ साधकों का संघ है। इस नाम से मानव-हितकारी आवश्यक बातों का प्रकाशन स्वामीजी महाराज ने किया है। यह कोई नया मत नहीं है, नया पंथ नहीं है, नया सम्प्रदाय नहीं है। एक बार एक सज्जन ने पूछा, "स्वामी जी महाराज ! बहुत-सी संस्थाएँ पहले से काम कर रही हैं और बहुत से सम्प्रदाय और संघ पहले से बने हुए हैं, तो आपने एक और क्यों बनाया ?" महाराज जी ने उत्तर दिया, भाई देखो ! मानव मौलिक रूप में एक समान है, कुछ बाहरी बातों में एक-दूसरे से भिन्न है। अनेक प्रकार की भिन्नता के रहते हुए भी, आन्तरिक एकता के आधार पर एक चीज, एक संस्था, एक मंच ऐसा होना चाहिए जहाँ सभी सम्प्रदायों, सभी मतों, सभी पंथों के व्यक्तियों को बैठकर स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करने का अवसर मिले। अलग-अलग सम्प्रदाय अलग-अलग ढंग से अलग-अलग रुचि और बनावट के व्यक्तियों को विकास का मार्ग दिखाते हैं। कोई गलत बात नहीं बताता है। लेकिन अलग-अलग रुचि, बनावट और योग्यता होने से साधन-प्रणालियों के बाहरी रूप भी बहुत जगह पर अलग-अलग हो जाते हैं। फिर क्या होता है कि मत, पंथ, सम्प्रदाय बनते तो हैं साधक-समाज की भलाई करने के लिए, उनको आगे बढ़ाने के लिए, मार्गदर्शन करने के लिए, लेकिन बाहरी बातों में भेद देखकर उन सबके बीच में एक वर्गीकरण हो जाता है। ईश्वरवादी ऐसा सोचने लगता है कि हम अनीश्वरवादी से भिन्न हैं। शैव सोचने लगता है कि हम वैष्णवों से भिन्न हैं। एक सम्प्रदाय का साधक सोचने लगता है कि हम दूसरे सम्प्रदाय के साधकों से भिन्न हैं। इस तरह से सम्प्रदाय बनते तो हैं आन्तरिक विकास के लिए, मानव समाज के हित के लिए, लेकिन आन्तरिक विकास पर दृष्टि नहीं जाती और मानव बाहरी विधि-विधान को पकड़ कर समाज

के बीच में भेद की दीवार खड़ी कर लेता है। फिर क्या होता है, कि सत्य को अपना कर सबके लिए सम्पूर्ण जीवन को सुन्दर और हितकारी बनाने के बदले आपस में एक-दूसरे के भेद-भाव से मजहब के नाम पर गैर मजहबी काम होने लगते हैं।

आरम्भ करते हैं हम लोग यह मान्यता लेकर कि हम साधक हैं और हमारा अमुक सम्प्रदाय है। उस सम्प्रदाय ने एक विशिष्ट प्रकार की साधना-प्रणाली सिखाई। वह साधना-प्रणाली किसलिए है कि तुम्हें उन सारी भेद-सीमाओं को पार करा करके जहाँ पर मौलिक सत्य है, जिसमें कि भेद है ही नहीं, जिसमें विभाजन सम्भव ही नहीं है, वहाँ तक पहुँचा दे। आरम्भ तो करते हैं हम सब सीमाओं को पार करके असीम-अनन्त से अभिन्न होने के लिए, लेकिन बाहरी भेद और सीमाओं को लेकर क्या करते हैं? साधक-साधक से अलग हो जाता है, दूर हो जाता है। हम आपकी पंक्ति में नहीं बैठ सकते, क्योंकि हम तो शैव हैं और आप वैष्णव हैं। हम आपके साथ नहीं मिल-जुल सकते, क्योंकि आप ईश्वरवादी है और हम अनीश्वरवादी हैं।

आप सभी भाई-बहन, मानव-सेवा-संघ के प्रेमी इस विशेष अवसर पर श्री महाराजजी की प्रेरणा से प्रेरित होकर यहाँ आए हैं। एक आवश्यक चर्चा आपको सुना रही हूँ। यह उस समय की बात है जबकि श्री महाराजजी का शारीरिक स्वास्थ्य बहुत बिगड़ चुका था। उनके पास बैठे-बैठे मानव-सेवा-संघ की गम्भीरता मेरी दृष्टि में आई। उस मौलिक सत्य को जीवित रखने के लिए अनेक प्रकार की बाधाओं को हटाने, अनेक प्रकार के प्रलोभनों पर विजय पाने तथा उस सत्य को समाज में जाग्रत बनाए रखने का दायित्व जब मैंने अपने पर देखा, तो अधीर होकर मैंने कहा, महाराज जी! यह बड़ा दायित्व इस दुर्बल व्यक्ति से कैसे ढोया जाएगा? उन्होंने करुणित होकर आर्द्र हृदय से सिर पर हाथ रखा और कहा, "बेटा तुम लोगों का काम तो केवल इतना है कि इस सत्य की मशाल को जलाए रखना। इस सत्य के द्वारा मानव-समाज को परित्राण दिलाने के लिए तो

अच्छे-अच्छे साधक, बड़े-बड़े व्यक्तित्व आएँगे तुम्हारे पास" उन्हीं की प्रेरणा से सब कार्य हो रहा है और वे स्वयं अदृश्य रूप से कार्य कर रहे हैं। एक सन्त से बात करते समय उन्होंने यह भी कहा था, "अब तक मैं जितना कर चुका हूँ, उससे अधिक करूँगा। अब तक मैं जितना कह चुका हूँ, इससे अधिक कहूँगा।" तो सत्य की मशाल को जलाए रखने के लिए, उनकी प्रेरणा से, उनकी सद्भावना से प्रेरित होकर आप लोग आ रहे हैं। यह मानव-सेवा-संघ के प्रेमियों को संबल देने वाली, बल देने वाली बात है।

मानव-सेवा-संघ प्रभु की रचना है। स्वामीजी महाराज ने कभी नहीं कहा कि मानव-सेवा-संघ मैंने बनाया है या कि यह आश्रम मैंने बनाया। उन्होंने सदा यही कहा कि यह प्रभु का संकल्प है। मानव संसार की बहुत सी बातों में बहुत पराधीन है और साधन के पथ में कदम आगे बढ़ाने में वह सर्वथा स्वाधीन है। आज क्या हो गया है कि गलत-गलत काम करके हम दुनियाँ में धाक जमा लेंगे—इस बात में आदमी विश्वास करने लग गया है और सत्य का सहारा लेकर हम लौकिक-पारलौकिक कल्याण कर लेंगे—इस बात में उसका विश्वास घट गया है। बड़ा अनर्थकारी काम हो रहा है समाज में। आप सभी जितने यहाँ उपस्थित हैं, आप में से कुछ भाई-बहन ऐसे भी होंगे जो सदस्य नहीं भी बने होंगे, लेकिन फिर भी उनको मानव-सेवा-संघ की बात पसन्द आती होगी। इसलिए आप सबके लिए बहुत ही हितकारी बात स्वामीजी महाराज की प्रेरणा से मैं आपकी सेवा में निवेदन कर रही हूँ, कि इस समय जिन संकटों के भीतर से होकर मानव-समाज गुजर रहा है, उन संकटों का भार हल्का करने में आप सभी उपस्थित भाई-बहन समान रूप से महत्त्वपूर्ण पार्ट अदा कर सकते हैं। कैसे?

पहला पाठ मानव-सेवा-संघ ने सिखाया कि अनुसरण करो अपने विचार का और आदर करो सबके विचारों का। साधक बनो, पथ ग्रहण करो अपनी पसन्दगी के अनुसार और आदर करो सभी पथ के साधकों

का। यह दृष्टिकोण हम सभी मानव-सेवा-संघ के अनुयायियों को अपना करके अपने जीवन में रखना बहुत जरूरी है। किसलिए? कि आपके अहं रूपी अणु में अगर यह उदारता आ गई कि मैं ईश्वरवादी हूँ तो मानव-समाज का हर ईश्वरवादी मेरे स्नेह और सद्भाव का अधिकारी है और ऐसे ही मानव-समाज का हर अनीश्वरवादी भी मेरे स्नेह और सद्भाव का अधिकारी है। अगर इतनी उदारता आपके व्यक्तिगत जीवन में आ गई तो मंच पर बैठकर के व्याख्यान दिए बिना भी यह उदार नीति मानव-समाज में फैल जाएगी। अब आप सोचकर के देखिए, कि हममें से हर एक उस अनन्त परमात्मा की एक छोटी इकाई है, और उसमें जो बीजरूप में प्रेम तत्त्व विद्यमान है, उसी के आधार पर हम अनन्त परमात्मा के प्रेमी होने जा रहे हैं—यह लक्ष्य है अपना। इतना महान उद्देश्य हमारा पूरा होने जा रहा है। इसमें अगर इस दृश्य जगत् के भीतर एक वर्ग और दूसरे वर्ग के बीच में हम लोग भेद बना देंगे, तो हमारा उद्देश्य पूरा नहीं होगा।

स्वामीजी महाराज ने मानव-सेवा-संघ का उद्देश्य बताया—अपना कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण। मान लीजिए कि सुन्दर समाज के निर्माण में हम नगर-नगर में कुएँ नहीं खुदवा सकते, हम सबके चलने के लिए बढ़िया सड़कें नहीं बना सकते, हम सब बीमारों के लिए औषधि का इन्तजाम नहीं कर सकते, संसार में समाज को सुन्दर बनाने के बड़े-बड़े जो काम हैं, हम नहीं कर सकते। लेकिन सबसे मौलिक बात, सबसे बढ़िया बात, जो समाज को सुन्दर बनाने वाली है, वह हमारे भीतर विद्यमान है और वह क्या है, कि मत, पंथ, भाषा, रहन-सहन, ऊँची योग्यता, पद आदि के आधार पर जो भेद-भाव बन गया है, उस भेद-भाव को मिटाने में अगर हमारा स्वयं का जीवन सहायक बन सका, तो कितना बड़ा काम हुआ! हम मानव-सेवा-संघ के विशेष कार्यकर्त्ता कहलाते हैं कि नहीं—इसका यहाँ पर कोई महत्त्व नहीं है। महत्त्व इस बात का है कि हम मानव-सेवा-संघ के अनुयायी हैं, इसका मूल्यांकन इस आधार पर होगा कि हमारी अशान्ति

मिट गई कि नहीं। अगर अशान्ति मिट गई और सत्य की स्वीकृति की पद्धति के आधार पर मिट गई, तो हम मानव-सेवा-संघ के सच्चे अनुयायी हैं। क्यों? क्योंकि मेरी अशान्ति मिट गई तो मेरा अपना कल्याण हो गया और मेरे शान्त जीवन के द्वारा बिना व्याख्यान दिए ही दूसरे भाई-बहनों में शान्ति फैलने लगी, तो सुन्दर समाज का निर्माण हो गया—यह मुख्य बात है।

"मानव-सेवा-संघ" का काम सत्य-संकल्प से हो रहा है। स्वामी जी महाराज ने कहा कि समाज की उदारता से सेवा की जो सामग्री तुम्हारे पास आवे उसका सदुपयोग करने का दायित्व तुम्हारे ऊपर है। चिन्ता करना तुम्हारी साधना नहीं है। अतः किसी भी साधक को किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। श्री महाराजजी ने दो जोरदार फण्ड बताए हम लोगों को—ईश्वर-विश्वास और कर्त्तव्यपरायणता। मेरा विश्वास है कि महाराजजी के दिए हुए फण्ड को अगर हम लोग जीवन में धारण करके रखेंगे, ईश्वर-विश्वास और कर्त्तव्यपरायणता का सहारा लेंगे, तो बिना चेष्टा किए सेवा की सामग्री हमारे पास आती रहेगी, जैसे अब तक आ रही है।

मानव-सेवा-संघ का अर्थ है—सम्पूर्ण शाखाओं के साथ यह विचारधारा धरती पर जितनी दूरी में फैल जाए—वह सारा क्षेत्र मानव-सेवा-संघ है। अतः सब शाखाओं के कार्यकर्त्ताओं एवं साधकों को मैं समान रूप से आत्मीयता के साथ आह्वान करती हूँ कि हम लोगों के लिए सावधान होकर काम करने का अवसर है। आज समाज में अनेक प्रकार की पीड़ा दिखाई दे रही है। समाज के भीतर नैतिक स्तर बहुत गिरता हुआ दिख रहा है। जहाँ जाओ वहाँ स्वार्थ-बुद्धि दिखाई देती है, अविश्वास दिखाई देता है, परस्पर विश्वासघात दिखाई देता है। यह जो समाज के कल्याण के विपरीत बातें हो रही हैं, हम सब साधकों के लिए एक अवसर है कि सत्य का प्रयोग अपने जीवन पर करें और जब मौका आए तब मानव-समाज के परित्राण के लिए हम इस शरीर और प्राणों की आहुति दे दें। इसमें डरना नहीं, पीछे हटने से काम नहीं बनेगा।

एक दिन मैं महात्मा ईसा की कथा सुना रही थी। जो भगवद्भक्त हैं, हमको बहुत प्यारे लगते हैं, क्योंकि मेरे प्यारे को प्यार किया उन्होंने। मीराजी की याद आती है तो मेरे हृदय में बहुत अच्छा लगता है, क्योंकि मेरे ठाकुर को प्यार किया उन्होंने। तो एक दिन ऐसे ही एक साधक ने कहा कि ईसा इतने बड़े प्रेमी थे भगवान् के, तो उनको सूली पर क्यों चढ़ना पड़ा? मैंने कहा कि मैंने स्वामी जी महाराज के मुख से सुना है कि जब उनके साथ के लोग भगवान् के प्रेम की बात नहीं सुन रहे थे, उनका विरोध कर रहे थे, तो महात्मा ईसा एक दिन अकेले जंगल में वृक्षों के झुरमुट में जाकर बैठ गए और भगवान् से बातें करने लगे। प्रेमीजन तो एकान्त में डाइरैक्ट उनसे बातचीत कर सकते हैं, तो उन्होंने कहा—हे पिता! तेरा काम तो मैं करूँगा, करना चाहता हूँ, लोगों को कितनी सच्ची बात तेरे बारे में सुनाता हूँ। लेकिन पता नहीं क्यों लोग सुनते ही नहीं हैं। तो उन्हें परमात्मा का उत्तर मिला कि अरे पुत्र! मेरे कार्य के लिए अभी तूने अपने प्राणों की आहुति कहाँ दी? ऐसा उनको भगवान् ने कहा। यह बात बहुत ही सच्ची है। मैं कहती हूँ कि हम लोगों का शरीर जो है, वह बीमार होकर के, बिस्तर में पड़ करके, दूसरों की दया का पात्र बन करके आखिर में खत्म तो होगा ही। अतः इसकी आहुति देने के लिए हम लोगों को भी तैयार रहना चाहिए।

सभी भाई-बहनों को, जो मानव-सेवा-संघ के प्रेमी हैं और जो मत, पंथ, सम्प्रदाय के भेद को मिटा करके मानव-हृदय की एकता को स्थापित करके प्रेम का प्रसार करके उस असीम के प्रेमी होने का लक्ष्य बनाकर चलते हैं, उनको परमात्मा के बल पर अपने को बलवान समझना चाहिए। हमें अपने बल का अभिमान नहीं करना चाहिए। प्रत्युत इस बात का गौरव होना चाहिए कि मैं तो उस अविनाशी का बालक हूँ, उस अविनाशी का दास हूँ, उस अविनाशी का मित्र हूँ, उस अविनाशी का पिता हूँ। आप अगर पिता बन जायेंगे तो बालक बनकर आपकी गोद में खेलने में भी उसको मजा आता है, डाँट सुनने में भी मजा आता है।

यशोदा मैया की झिड़कियाँ उन्होंने सुनी हैं। रोनी-रोनी सूरत बनाकर, आँखों में से आँसू टपका कर ऐसे खड़े हैं डर करके, कि जैसे इनको कुछ मालूम ही नहीं है। वह ऐसा दिव्य दृश्य है, ऐसी दिव्यलीला है कि आज भी कोई यशोदा मैया बन जाए, उतना वात्सल्य हृदय में भर ले, तो आज भी वह बालक बनकर आपके सामने वैसे ही खड़ा हो सकता है, जैसा द्वापर युग में। हमारे भीतर अगर किसी प्रकार का बल है तो उस समर्थ का बल है। हमारे जीवन में अगर गौरव किसी बात का है, तो इसी बात का गौरव है कि हम उस अनन्त के चिर सम्बन्धी हैं।

अगर आगे बढ़कर लौकिक जगत् की सेवा करनी है, तो सेवा लेने के लिए वही आया है, सेवा देने की सामर्थ्य वही दे रहा है—ऐसा सोचिए। एक वस्तु उठाकर हाथ में प्रेमपूर्वक देने चले और लेने वाला उसको स्वीकार करे और उसी समय आपके ध्यान में आ जाए कि अहा! मेरे स्वार्थ भरे इस कठोर हृदय को कोमल और उदार बनाने के लिए मेरे प्यारे! तुम लेने आए हो। अगर यह बात याद आ जाए, तो यह मैं सच कहती हूँ कि वस्तु हाथ में रह जाएगी और आपको प्रेम समाधि लग जाएगी। अभी भी ऐसा हो सकता है। जंगल में जाकर, पहाड़ की गुफा में घुस कर नहीं, वह वृक्ष के नीचे बैठकर नहीं, पत्तों का कपड़ा पहनकर नहीं। इस सुख-दुःख से भरे हुए जगत् में, इस समाज में घुस करके काम करते समय, वस्तु उठाकर लेते-देते समय, अगर यह भाव उदित हो गया, तो समाधि लग जाएगी। भेद मिट जाएगा। कौन देने वाला है, कौन लेने वाला है—ये दो नहीं रहेंगे।

महाराजजी ने प्रेम के गणित का एक बढ़िया फार्मूला पढ़ाया हमको। उन्होंने कहा—"देवकी जी! यह लोगों का भ्रम है कि प्रेम पन्थ में द्वैत रह जाता है—एक प्रेमी और एक प्रेमास्पद—यह भ्रम है। वहाँ का गणित तो ऐसा है कि एक और एक मिलकर एक ही होता है, दो नहीं होते। यह हो

सकता है, अभी हो सकता है। इसी काल में हो सकता है।

ऐसा अद्‌भुत चमत्कार है जीवन का, कि अपने ही विकास के चमत्कार से चमत्कृत होकर कभी-कभी सोचने में आता है कि अरे! हम क्या हैं और क्या होकर बैठे थे। आप स्वयं ही अपने विकास पर आश्चर्यचकित हो जाएँगे कि अच्छा! इतना बड़ा रहस्य इसी में छिपा था। तो अवसर है हम सभी भाई-बहनों के लिए कि सब तरह के भेदभावों को मिटाकर अपने हृदय के प्रेमभाव को शुद्ध और पवित्र बनाएँ, ताकि उस अनन्त प्रेम स्वरूप परमात्मा को रस देने के लायक हो जाएँ। उस भेदभाव से रहित जीवन के द्वारा साधक-साधक प्रेमपूर्वक मिल तो सकें, यह पूछे बिना कि आप किस पंथ के हैं, आप किस मत के हैं, आप किस सम्प्रदाय के हैं। एक जगह पर बैठकर जीवन के सत्य की चर्चा कर सकें। आप सत्य के सत्यार्थी हैं, आप प्रेमास्पद के प्रेमार्थी हैं, आप शान्ति के चाहने वाले हैं, आप सत्य के शोधक हैं—इस नाते से साधक साधक से प्रेमपूर्वक दिल खोलकर बातें तो कर सकें। सब प्रकार के भेद सीमाओं को मिटा करके जीवन की मौलिक एकता के आधार पर विश्व-प्रेम की एकता फैलाने का संदेश है—मानव-सेवा-संघ।

आश्रम दिखाई दे रहा है, दीवारें दिखाई दे रही हैं और सब प्रवृत्तियाँ दिखाई दे रही हैं, ग्रन्थ दिखाई दे रहे हैं और शाखाएँ दिखाई दे रही हैं—हमारी बुद्धि की स्थूलता के कारण ये सीढ़ियाँ बना दी गई हैं कि स्थूल पर से चढ़ते-चढ़ते सब स्थूल को छोड़ करके सूक्ष्म में हम लोग पहुँच जाएँ। इतनी उदारता हृदय में रख करके, इतनी व्यापकता दृष्टि में रख करके हम सब मानव-सेवा-संघ के प्रेमी इसी जीवन में अपना कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण कर सकते हैं।

●

प्रवचन 18

सत्संग-प्रेमी माताओ, बहिनो और भाइयो !

होली का पुण्य पर्व असत्य पर सत्य की विजय का त्यौहार है—ऐसा हमने सुना है। असत्य पर सत्य की विजय का प्रमाण है—मानव जीवन। ऐसा हमने समझा है। अब जो कार्यक्रम हमारा यहाँ चल रहा है उसमें इसी दिशा में अधिक से अधिक प्रगति लाने की चेष्टा है। निज विवेक के प्रकाश में अपने जाने हुए असत् का त्याग करना, इसे हमारा पुरुषार्थ बताया गया। इतना हम भाई-बहिनों को स्वयं अपने द्वारा करना है और असत् के संग के त्याग का परिणाम है कि अपने ही में विद्यमान सत्य की अभिव्यक्ति हो जाती है। इसके लिए अपने को कुछ करना नहीं है। करना केवल इतना है कि जिस असत् को असत् करके हम जानते हैं, उसकी पराधीनता को नापसन्द कर दें और जिस सत्य की माँग हम अनुभव करते हैं उसको पसन्द कर लें।

स्वामीजी महाराज ने हम लोगों के लिए बहुत अच्छी व्याख्या इस बात की की है कि विकास कहाँ पर रुका है? जो आनन्दमय अनुभव हमारा अपना जीवन बन सकता है वह अपने से बहुत दूर और बड़ा ही दुरूह और बड़ा ही कठिन लगता है। इसको मिटाने के लिए कई उपाय उन्होंने सामने रखे। पहली बात यही है कि हम निज विवेक का आदर करें। दूसरी बात है कि सत्संग को जीवन का अति आवश्यक कार्यक्रम बनाएँ। महात्मा गाँधी ने अपने साहित्य में अपने जीवन का अनुभव लिखा है। उसमें यह लिखा है कि मैं भोजन के बिना रह सकता हूँ, परन्तु प्रार्थना के बिना नहीं। तो जिस प्रभु की सत्ता उन्होंने स्वीकार की थी और जिसके बल पर वे निर्भय होकर संसार में चलते थे, उनकी प्रार्थना को उन्होंने बहुत आवश्यक माना। प्रार्थना उनके लिए ऐसा अनिवार्य तथ्य था कि वे भोजन

को उसके आगे कम महत्त्व देते थे। प्रार्थना-काल में अपने ही अन्तःवासी परमात्मा के साथ उनका नित्य सम्बन्ध इतना सजीव और जाग्रत होता कि उस प्रार्थना की घड़ी में लाखों लोगों के बीच में बैठे हुए भी वे शरीर और संसार को भूल जाते थे। भीतर की आवाज उनको सुनाई देती थी। उसे वे ईश्वर की आवाज कहते थे। भीतर का प्रकाश उनको दिखाई देता था, उसको वे ईश्वर का प्रकाश कहते थे और इतना बल भर जाता था उनमें कि जो निर्णय उनके भीतर से प्रकट होता था कि अब ऐसा करना चाहिए, तो उससे उनके अन्दर शक्ति भर जाती थी। बड़ी से बड़ी कठिनाई सामने आ जाये तो उससे टकरा जाने के लिए वे तैयार रहते। यह तो उनकी दशा है जिनके जीवन में अपने इष्ट के प्रति, अपने भगवान् के प्रति इतनी सजीव आस्था थी और अनुभव था।

अब अपनी बात मैं रखूँ। हम लोगों की दशा क्या है? हम लोग भी इस बात को चाहते हैं कि जिस ईश्वर को हमने माना है और जिस ईश्वर के विश्वास को लेकर जन्म-जन्मान्तर की सारी समस्याओं को समाप्त करके अनमोल अविनाशी जीवन पाना चाहते हैं, उस ईश्वर के प्रति हमारे भीतर विश्वास भी सजीव हो, सम्बन्ध भी सजीव हो और उनकी उपस्थिति का सरस अनुभव भी अपने को हो। ऐसा हम सब चाहते हैं। बहुत सजीवता की बात है यह। शंका की घड़ी में दिल में दुविधा को लेकर जब हम ईश्वर को मानते हैं तो उनसे सीधा सम्बन्ध होने का एक सरस प्रभाव हमारे भीतर-बाहर नहीं भरता है और तभी आदमी किसी भी क्षण में ईश्वर का सहारा छोड़ने के लिए तैयार हो जाता है।

एक साधक मुझे मिले जिनके जीवन की चर्चा सुनकर मुझको बहुत अच्छा लगा। वे कहने लगे—बचपन में जब से मुझे होश हुआ तब से साधु-सन्तों के प्रति प्रेम और स्वयं साधु बनने का शौक मुझ में पैदा हो गया था। विवाह होने से पहिले मैं दो-तीन बार घर छोड़कर भाग चुका

था। पढ़ने-लिखने में बहुत मेधावी और माँ-बाप का इकलौता लड़का। बहुत ही उसकी आवश्यकता थी परिवार में। अनेक बार पकड़-पकड़ कर उसे घर लाया गया। कहने लगे कि मेरा ही संस्कार रहा होगा कि गृहस्थ बन गया। लेकिन वह लगन मेरी गयी नहीं। इतनी कथा तो मुझे बहुत प्रिय लगी। उसके बाद वे कहने लगे कि बहिनजी ! मैं अपनी एक भीतरी बात पूछने आया हूँ आपसे, और वह यह है कि मैं भगवान् को मानता भी हूँ, उनके आश्रित भी रहता हूँ, और हे प्रभु ! मैं तेरा हूँ—ऐसा मैंने कई बार कह दिया। और फिर भी एकान्तिक साधना की घड़ी में मेरा मन, मेरा ध्यान भगवान् पर टिकता नहीं है, भटक जाता है। वे सज्जन इस बात को अच्छी तरह से महसूस कर रहे थे जिसको कि मैंने भी महसूस किया है। तो वह बहुत ही सच्चाई से सीधी-सादी भाषा में कह रहे थे कि बहिनजी, मैं यह चाहता हूँ कि अपने प्यारे के प्रति मेरा जो सम्बन्ध और उनके प्रति मेरा जो समर्पण भाव है वह मेरे जीवन को सरस बना दे। भीतर से जिस सजीवता और जिस सरसता को अनुभव करना चाहता हूँ वह मेरे भीतर अब तक नहीं आई। मैंने कितनी बार कहा है कि हे प्रभु ! मैं तुम्हारी शरण हूँ। तो आज तक उन्होंने तो कुछ किया ही नहीं मेरे लिए। ईमानदार सच्चे साधक की बात है। समाज में उनकी बड़ी प्रतिष्ठा है। लोग उनको बहुत महान् समझते हैं। और फिर भी उन सज्जन के भीतर सत्य की अभिव्यक्ति न होने का दुःख है। उसको उन्होंने इतनी सरलता से मुझको बताया। कहने लगे कि जब ऐसा हो चला है तो मैं क्या करूँ ? जब मन और ध्यान एक हमारे इष्ट में केन्द्रित नहीं हो पाता है, तो मैंने सन्तों से जैसा सुना है, मन के और चित्त के भटकाव को मैं द्रष्टा बनकर देखने लगता हूँ। अर्थात् ज्ञान-पक्ष की बात आ जाती है। समर्पण भाव उसी समय छूट गया। फिर दूसरा पंथ पकड़ लिया। तो विश्वास के पंथ में चलते हुए अपने भीतर जब तक सजीवता नहीं आ जाती, सरसता नहीं आ जाती, उसका प्रभाव

रोम-रोम को एकदम आप्लावित नहीं करने लग जाता है, तो साधक भटक जाता है। उस भाई का हाल सुन करके मुझे ऐसा लगा कि इनके दिल में यह शंका हो गयी कि मैंने तो अनेक बार कहा कि हे प्रभु ! मैं तेरा हूँ, लेकिन प्रभु ने मेरे लिए कुछ किया ही नहीं, तो अब रहने दो उनको। अब उस पंथ से काम नहीं चलता है तो अब विचार का पंथ ग्रहण करो। अब देह-देही विभाजन करके शरीरों में होने वाली घटनाओं को अलग से द्रष्टा बन करके देखना आरम्भ करो। विश्वास का पंथ छूट गया, विचार का पंथ आरम्भ हो गया और इस दुविधा में उन सज्जन का बहुत-सा समय निकल गया।

महात्मा गाँधी की तो ऐसी दशा नहीं थी। वे तो ईश्वर में इतना दृढ़ विश्वास करते थे, इतना सजीव कि शान्त हुए, चुप हुए और संसार गया। उनकी और उनके परमात्मा के बीच की घनिष्ठता इतनी फलदायिनी होती थी कि उसी क्षण में सब शारीरिक दुर्बलता खत्म। सब बाहरी परिस्थितियों की समस्याओं के समाधान सामने आ जाएँ। और इतने जोर से उसे अनुभव करते थे कि उसका अनुसरण करते समय अगर उनको कोई मना करे, तो मानेंगे नहीं और गोली चला दे, तो रुकेंगे नहीं। एक महिला जो उनके साथ रहती थी और जिन्होंने बचपन से बहुत बड़ी उम्र तक महात्मा गाँधी के आश्रम में जीवन बिताया, उन्होंने मुझको बताया कि बापू जब प्रार्थना के बाद उठते तो कोई निश्चय की बात हम लोगों को सुना देते। पीछे जो उस समय के बड़े-बड़े राष्ट्र-प्रेमी लोग गाँधीजी के साथ थे वे सोचते कि हम कहेंगे बापू से कि ऐसा निर्णय मत लीजिये और थोड़ा बैठिये तो हम लोग पुनः सोच लें। ऐसा सोचकर जो वे बापू के पास जाने के लिए कदम बढ़ाते तो ऐसा लगता कि जैसे वायुमण्डल थर्रा रहा है, काँप रहा है। ऐसा मत करो, यह उनको कहने का लोगों को साहस नहीं होता था। इतनी शक्ति, इतना फोर्स उस महापुरुष के जीवन में भर

जाता था, लाखों लोगों के बीच में बैठे हुए आधे घण्टे की प्रार्थना में, क्योंकि उनका तार मिला हुआ होता था प्रभु से। बाद में तो बाहर आँख बन्द की नहीं कि शरीर और संसार गया। और वह उन्हीं के साथ होते। उस प्रेम में ही होते। उस रस में ही होते। उस प्रकाश में ही होते। और उसी में उनको मार्गदर्शन भी मिल जाता कि आगे क्या करना चाहिये। कभी कोई संकेत मिल जाता, कभी कोई चित्र दिखाई दे जाता और कभी ध्वनि सुनाई दे जाती। ये सारी बातें उनके मुँह की कही हुई और लिखी हुई हैं। तो उनकी बात छोड़िये। वे हमारे प्रणम्य हैं, उनकी चरण-धूलि हम मस्तक पर चढ़ाएँ।

अब अपनी दशा देखो। हम लोगों की दशा ऐसी है कि ईश्वर में हमने विश्वास भी किया, उनको अपना भी माना। और उनके होकर रहने की बात स्वामीजी महाराज ने बतायी कि भैया, तुम उनके होकर रहो तो उसका फल क्या होगा? कि तुम अपने में अनुभव करोगे कि तुम्हारा नित्य वास परमात्मा में है, ऐसा अनुभव करो। जैसे कि वे स्वयं अनुभव करते थे। ऐसा सुन करके अच्छा लगा, तो सोचा कि सन्त हैं, भगवद्भक्त हैं और सच्ची बात, अनुभव-सिद्ध बात बता रहे हैं, तो हम लोगों को मान लेना चाहिये।

हम में से बहुत से भाई-बहिनों ने ईश्वर-विश्वास की बात को स्वामी जी महाराज के जीवन के अनुभव के आधार पर स्वीकार कर ली। स्वामी जी महाराज ने कहा है कि परमात्मा ही सत्य है, परमात्मा ही नित्य है। केवल उसी से तुम्हारा नित्य सम्बन्ध है। उसकी आत्मीयता से जाग्रत प्रियता ही परमात्मा से मिलने का अचूक उपाय है—इतना उन्होंने कह दिया। और हम लोगों ने मान लिया और किसी भी तर्क से उनके द्वारा कहे गये इन महावाक्यों को हम लोग काट नहीं सकते हैं, इसमें शंका नहीं कर सकते हैं। एक ओर तो यह सत्य है और दूसरी ओर अपनी दशा यह

है कि भीतर-भीतर एक ऐसी दुर्बलता बैठी है कि भाई, जो परमात्मा दिखाई नहीं देता, समझ में नहीं आता, कुछ उसके बारे में अपनी जानकारी भी नहीं है, उसके भरोसे इतना बड़ा खतरा कौन ले? कौन-सा खतरा? कि भाई, जमा किए हुए बैंक एकाउन्ट पर से अधिकार कैसे उठा दें? बड़े यत्न से जाने हुए शरीर का मोह कैसे छोड़ दें और सब समय जो कुटुम्बी जन मुझे घेरे हुए हैं, बड़े प्रेम से मेरी सेवा कर रहे हैं, खिला-पिला रहे हैं, मेरी सब प्रकार से देख-रेख करते हैं, तो उन कुटुम्बीजनों का सहारा कैसे छोड़ दें? क्योंकि वे सहारे तो प्रत्यक्ष हैं, मुझको मिल रहे हैं, मेरी मदद कर रहे हैं और दूसरी तरफ जो स्वामी जी महाराज ने बताया वह बात तो ठीक लगती है, लेकिन है बहुत मुश्किल।

इतनी-सी दुविधा रह गयी और अब इसको भी मिटाना होगा अगर हम ऐसा सोचें कि अच्छा जाने दो। जो सामने सब प्रकार से सुख-सुविधा दे रहा है, उसी को पकड़ लो और सन्तजन, भक्तजन जिनके बारे में बताते हैं वह अपना जाना हुआ तो है ही नहीं, तो उसको रहने दो—तो ऐसा कहने का साहस भी अपने में नहीं है। भगवान् की चर्चा को जीवन में से निकाल देना भी पसन्द नहीं है। चर्चा करते रहेंगे भगवान् की और चिपके रहेंगे नाशवान् से। तो क्या इसमें सफलता मिल सकती है? नहीं मिल सकती है। जिस नाशवान् से चिपक करके, उसको मुट्ठी में बाँध करके बड़े जतन से उसके सहारे शान्त रहना पसन्द है, क्या आपको उससे शान्ति मिल गयी है? नहीं मिली है।

तो बहुत ही सच्ची बात है जीवन की। मानव-सेवा-संघ ने बड़ी ही गहरी वेदना के साथ इस विषय पर विचार किया कि अगर मनुष्य को सत्य की आवश्यकता महसूस होती है, लेकिन वह ग्रन्थ के पढ़ने में सक्षम नहीं है, तो क्या सत्य उसे नहीं मिलेगा? मिलेगा, जरूर मिलेगा और सचमुच जीवन के सत्य को प्रकाशित करने वाले बड़े-बड़े सन्त हम लोगों

के बीच में हो गये हैं, जिन्होंने कहकर सुना दिया हमको "मसि कागद छुओ नहीं" यह सन्त कबीर की वाणी है। उन्होंने कह दिया कि मैंने कागज और स्याही हाथ से छुआ नहीं है तो सत्य मिला कि नहीं मिला? मिला। जब पहली बार स्वामी जी महाराज ने मानव-सेवा-संघ के सिद्धान्त को प्रकट किया, तो उस समय के अध्यक्ष जो थे, उन्होंने राँची में मानव-सेवा-संघ की महिमा गाते हुए यह कहा कि यह मानव-सेवा-संघ का विचार जो है यह *Spiritual Democracy* है। अर्थात् आध्यात्मिक विकास में सबका समान अधिकार है—इस सत्य को प्रकाशित करने वाली यह प्रणाली है।

तो शरीर और संसार की सहायता से बहुत कुछ कमा लिया, बहुत उपार्जन कर लिया। सबका लेखा-जोखा सामने रख के अकेले बैठकर अपने से पूछो कि इतने वर्षों तक जो दौड़-धूप की, परिश्रम किया, उपार्जन किया, उसमें ऐसा कुछ है क्या कि मरने के समय शरीर के छोड़ने की घबराहट को कम करने के लिए मुझको सहारा दे सके? नहीं, ऐसा कुछ नहीं है। तो फिर उसी में शेष जीवन को भी लगा देना समझदारी की बात तो मालूम नहीं होती है। इसलिए बदलना चाहिये अपने को। और यह बिल्कुल सच्ची बात है कि विचार के प्रकाश में अपने द्वारा अपने जीवन का अध्ययन करते हुए जो निर्णय आप लेंगे उससे आपके अहं रूपी अणु में आमूल परिवर्तन हो जाएगा जो कि अभ्यास के द्वारा नहीं हो सकता।

अभ्यास के द्वारा शरीरों की, स्नायुओं की संवेदनाएँ अर्थात् *Reflexes* कन्ट्रोल में आते हैं। इन पर अधिक सचेत हो करके मेहनत करने की जरूरत नहीं होती है। जितना हम अभ्यास करते हैं किसी बात के लिए तो उस अभ्यासजन्य प्रवृत्ति का प्रभाव सूक्ष्म और स्थूल शरीरों के *Reflexes* पर पड़ जाता है। बहुत-सी बातें ऐसी हैं कि अभ्यास के बाद अपने आपसे चलती रहती हैं। ये सारी बातें स्थूल शरीर और सूक्ष्म

शरीरों के अवयवों पर हो सकती हैं। लेकिन जिससे अपने में परिवर्तन आ जाए, अपने भ्रम का निवारण हो जाए, अपने द्वारा विकारों की उत्पत्ति के कारणों को मिटा सके—यह बातें तो आप स्वयं के द्वारा ही कर सकते हैं, विचार के प्रकाश में कर सकते हैं और अपने निर्णय से कर सकते हैं। इसलिए मानव-सेवा-संघ ने व्यक्तिगत सत्संग को बहुत महत्त्व दिया है। यह तो सामूहिक चर्चा हो रही है। इस चर्चा का एक बहुत बड़ा लाभ अपने को यह मिल सकता है कि चर्चा में जो सुनने में आ रहा है उसके प्रकाश में हम लोग अपने जीवन को देखते जा रहे हैं? तो सत्य क्या है? असत्य क्या है? ग्राह्य क्या है? त्याज्य क्या है? वर्तमान दशा क्या है? वास्तविक जीवन क्या है? अपनी माँग क्या है? अपना लक्ष्य क्या है? इसके सम्बन्ध में दृष्टिकोण स्पष्ट हो रहा है।

अब क्या करना चाहिए? कि सामूहिक रूप से बात-चीत करने का जब समय खत्म हो जाए तो जिस भाई-बहन को जब अवसर मिले, अकेले कहीं बैठ जाओ और इस बारे में विचार करो कि क्या सचमुच मैंने परमात्मा को सत्य माना? अगर उनको सत्य माना तो उनकी महिमा मेरे जीवन में अंकित क्यों नहीं हुई? क्या सचमुच मैंने नाशवान् को त्याज्य माना? अगर माना तो आसक्ति मेरी मिटी क्यों नहीं? अपनी वर्तमान दशा को देखना और वर्तमान दशा को बदल डालने के लिए वर्तमान में जो पुरुषार्थ हो सकता है उसको करना, यह व्यक्तिगत सत्संग का रूप है। तो इस प्रकार के सत्संग को करके ईश्वर-विश्वास की दृष्टि से जिस भाई-बहन को अपने भीतर कमी मालूम होती हो तो उसको दूर करने का प्रयास जल्दी से जल्दी करना चाहिये। कहीं ऐसा न हो कि प्राण-शक्ति समाप्त हो जाए और सबसे महत्त्वपूर्ण प्रोग्राम बाकी रह जाए।

मैंने पाश्चात्य दर्शन पढ़ा है और भारतीय संतों के मुख से सुना है कि ज्ञान का प्रकाश देकर, विज्ञान का प्रकाश देकर, प्रेमरस का भाव देकर

परमात्मा हम लोगों को दुनियाँ में भेजते हैं। तो उनके दिये हुए प्रकाश का आप सही उपयोग नहीं कर लेंगे, तो जड़ता बढ़ती चली जाएगी। लापरवाही करने का बहुत लम्बा दुःखद परिणाम हम लोगों को स्वीकार करना पड़ेगा। इसको किसी भी चालाकी से, चतुराई से, बहादुरी से हम मिटा नहीं सकेंगे। इसलिए बहुत ही सजीवता की बात है, बहुत ही सजग होने की बात है कि हम सब भाई-बहिनों को अकेले-अकेले व्यक्तिगत सत्संग करना चाहिये। और सचमुच आज जितना सूझ रहा है उतना कदम तो अवश्य उठाना चाहिये। आगे शक्ति बढ़ती जाएगी, प्रकाश मिलता जाएगा। उद्धार हो जाएगा। मुझे तो बड़ा सन्तोष, बड़ी निश्चिन्तता मिली थी इस बात से कि मेरा उद्धार हो जाए, मेरे विकारों का नाश हो जाए। मेरा जीवन परम शान्ति से भर जाए। जिसको मैंने अपना करके स्वीकार किया है उसके प्रेमस्वरूप से मेरी अभिन्नता हो जाए और इस मधुर अलौकिक प्रेम रस की मधुरता से जन्म-जन्मान्तर के सब विकार धुल जाएँ, ऐसा हम लोग चाहते हैं। यह संकल्प केवल मेरा है, ऐसा नहीं है। केवल आपका है, ऐसा नहीं है। सोचने से ऐसा लगता है न, कि जन्म-मरण की पीड़ा को जिसने सह लिया, मान-अपमान के धक्के जिसने खा लिए, वह खुशी से नहीं तो झक मार के निश्चय करेगा कि चलो अब सन्त-महात्मा जो कहते हैं, वैसा मानें। हार करके केवल अपनी तरफ से इस प्रकार अपने उद्धार का संकल्प हम बनाएँगे, इतनी-सी बात नहीं है। हमारे उद्धार का संकल्प परमात्मा का भी है। मैंने महाराजजी के कथन के अनुसार जो ग्रहण किया है वह बात ऐसी है कि मनुष्य बुरा न रहे, अतृप्त न रहे, अभाव से पीड़ित न रहे, पराधीनता में फँसा न रहे और अपने रसरूप उद्गम से बिछुड़ कर रस के अभाव में दुनियाँ की धूल फाँकता न फिरे—ऐसा संकल्प मेरे जीवनदाता का भी है। ऐसा नहीं है कि वे सब प्रकार से पूर्ण हैं, तो उनको अपने लिए और कोई जरूरत नहीं है। वे हम लोगों की तरफ से

उदासीन रहते हों, ऐसा नहीं है। महाराजजी की सलाह मान करके थोड़ा-थोड़ा-सा नाता-रिश्ता, जान-पहचान बढ़ाने की जब मैंने चेष्टा की तो उसके बाद मुझको ऐसा लगने लगा कि भ्रम में पड़े हुए, भटके हुए व्यक्ति को अपने उद्धार के लिए तत्परता कम है। इसकी पीड़ा से पीड़ित होने वाले उस अनन्त करुणासागर परमात्मा को उसकी दुर्गति से अधिक वेदना है। तो मुझे बड़ा बल मिला। मैंने कहा कि चलो, अब सारा भार मेरे ऊपर ही नहीं है। और इसी सहारे मैं परमात्मा से कहती हूँ—"मैंने तेरी छाँह गही, तूने मेरी बाँह गही।" हम थोड़ी-थोड़ी-सी लालसा जगाते हैं तो उनकी ओर से बड़े जोर का आकर्षण आकर हमें उनकी ओर बढ़ने के लिए अधिक तत्पर बनाता है।

इन बातों का व्याख्यान देते समय या व्याख्यान सुनते समय, समूह में बैठकर चर्चा करते समय या ग्रन्थ पढ़ते समय भले पता न चलता हो, लेकिन आप जब व्यक्तिगत सत्संग के लिए अकेले बैठेंगे और अपनी वर्तमान दशा को देख-देख कर सचमुच आपके भीतर अगर पीड़ा पैदा होगी, तो आपके भीतर से वेदना भरे वाक्य पूरे होंगे पीछे और उबारने वाले की करुणा का हाथ आपका स्पर्श करेगा पहले। दुःख सुनाना आप भूल जाएँगे। शिकायत करना आप भूल जाएँगे, "मैंने कब से पुकारा, आपने सुना ही नहीं।" कहने वाले कहते हैं। मेरे पास चिट्ठियाँ आती हैं कि आपने जब ईश्वर की महिमा सुनाई थी, तो उस समय तो मुझे बड़ा साहस मिला था, बहुत सत्य मालूम होता था और अब तो अकेले में यहाँ पर परिवार के फंदे में फँसकर मैं कब से पुकार रही हूँ? और आपके भगवान् सुनते ही नहीं हैं। ऐसा कहते हैं लोग। तो उन पीड़ितजनों के प्रति मेरी खूब सहानुभूति है। खूब हमदर्दी के साथ उन पत्रों का मैं उत्तर देती हूँ। लेकिन उनका पत्र लिखना और मेरा उत्तर देना—यह सब तो तब न सार्थक होता, कि सचमुच वेदना की घड़ी में उस करुणासागर के स्पर्श का आनन्द

उनको मिल जाता। किसी भी समय, किसी भी रूप में वे शान्ति स्वरूप कभी शान्ति होकर प्रकट हो जाते हैं। वे सामर्थ्यवान्, अनन्त ऐश्वर्यवान् कभी साधक की दुर्बलता की घड़ी में सामर्थ्य होकर प्रकट हो जाते हैं। ऐसा बल भर जाता है कि मालूम होता है कि मैं अकेले सारे जगत् से टक्कर ले सकती हूँ। वे प्रेमस्वरूप ऐसे मधुर रस के रूप में भीतर-भीतर प्रकट होकर सब रिक्त दिलों को भर देते हैं। ऐसी सामर्थ्य अन्न, वस्त्रादि छोड़े बिना ही मिल सकती है। क्योंकि विशेष प्रकार का वस्त्र, विशेष प्रकार का आहार, विशेष प्रकार का आवास—ये सब तो शरीर की सतह पर होने वाली बातें हैं। लेकिन वह अन्तर की वेदना जो है, यह साधक के लिए बहुत ही उपयोगी है। साधक यह सोचकर दुखी होता है कि हाय ! इतने दिन हो गये भगवत् समर्पण के भाव की दीक्षा लिए हुए और आज तक देह के लिए किया हुआ आत्म-समर्पण गया नहीं मुझसे, आज तक धन की शरणागति छूटी नहीं। तो संकट की घड़ी में शरीर का बल याद आता है, कुटुम्ब का बल याद आता है, धन का बल याद आता है, तो ईश्वर-समर्पित साधक के लिए यह कलंक है और बड़ी भारी विपत्ति की घड़ी है। यदि ऐसी कोई बात अपने में दिखाई दे, तो भी हार नहीं माननी चाहिए, क्योंकि थामने वाले तो अपने भीतर ही मौजूद हैं।

तो अकेले होने की घड़ी में जब हम अपने चित्र को देखते हैं तो यह दशा स्पष्ट होकर सामने आती है। उस समय अगर अन्तर की व्यथा प्रकट होती है तो वह अहम् रूपी अणु के आवरणों को नाश कर देगी। अपनी असफलता की वेदना सफलता की कुंजी है। मैंने किसी माध्यम से बड़ा भारी आश्वासन पाया। मुझे सम्वाद मिला कि डरने की कोई बात नहीं है। एक बार साहस करके क्यों नहीं आप चली आतीं? डरने की कोई बात नहीं। मैं तो तैयार हूँ। मैं तो सब समय तत्पर हूँ। कह दो कि इस पथ में कुछ ठोस नहीं है कि चोट लग जायेगी, कुछ बड़ी चीज, सख्त

चीज नहीं है कि तकलीफ हो जायेगी। यहाँ पर सब कोमल ही कोमल है, आनन्द ही आनन्द है, रस ही रस है। मैंने कब इन्कार किया है अपनाने से? मैंने कब मना किया है आने को? डरने की कोई बात नहीं है। बिल्कुल सत्य है, अक्षरशः सत्य है। यह अपना भय ही हम लोगों को उस अनुपम अलौकिक जीवन से दूर रख रहा है। कोरा भ्रम है, मिथ्या भय है।

ये बातें अपनी दृष्टि से स्पष्ट होंगी व्यक्तिगत सत्संग के समय। उसको इतना आकर्षक प्रोग्राम बनाएँ हम लोग, इतना आवश्यक बनाएँ कि एक दिन भी बिना व्यक्तिगत सत्संग के बीतने न दें। ऐसा न हो कि सूर्योदय हुआ, सूर्यास्त हो गया और फिर दूसरा सूर्योदय आ गया और इतनी देर हमने बिना सत्संग के साँस ले लिया, प्राणशक्ति गँवा दी। ऐसा हम लोगों को नहीं होने देना चाहिए और बाकी जो बातें हैं, वे सब तो हो ही रही हैं, होती ही रहेंगी। हम नहीं थे तब भी सब बातें हो रही थीं और हम नहीं रहेंगे तब भी सब होती रहेंगी। पारिवारिक संघर्ष, कुटुम्बीजनों का मिलन, संयोग-वियोग इस सृष्टि के स्वरूप में है, सदा से होता रहा है, सदा होता रहेगा। आर्थिक स्थिति का बन जाना, बिगड़ जाना, धन का आ जाना, निकल जाना, शरीर का स्वस्थ होना, बीमार होना, कलह होना, संघर्ष का मिट जाना, संघर्ष का बन जाना, भेद-भाव का पैदा हो जाना, इन बातों के पीछे कब तक पड़ेंगे भाई? दैनिक जीवन में उठने वाली छोटी-छोटी घटनाओं को इतना महत्त्व देना शान्ति-सम्पादन के अवसर को खो देना है। यह ऐसा ही है जैसे जीवन को खो देना और मृत्यु को वरण करना। इससे अधिक उसका कोई महत्त्व नहीं है। कहाँ तक समस्या सुलझाओगे बाबा? भूतकाल में कभी समस्या का अन्त हुआ है? अरे मेरा अपना अहं ही समस्या बनकर खड़ा है, तो बाहर की समस्या कैसे घटेगी?

जो सदा-सदा से है उसमें शंका रखो, जो त्रिकाल में भी हुआ नहीं, है नहीं, अब तक तुम्हारी पकड़ में आया नहीं, आगे आएगा नहीं, उसको सत्य मानो। इस प्रकार की भूल का बना रहना जितनी बड़ी समस्या है, उतनी बड़ी समस्या संसार में और कोई हो सकती है? आप इस तरह से सोच करके देखिएगा। हजार उलझनें आपके सामने आ जाएँ। अगर यह बात ध्यान में आ गयी कि भाई इस समस्या को सबसे पहले हल करो कि सत्य को सत्य करके स्वीकार करना ही है। असत् को असत् कह कर उसकी नापसन्दगी रखना ही है। अगर इसको सुलझाने के लिए हम तत्पर हो गये, तो महाराजजी की वाणी है कि "मैं बदल जाऊँ तो दृष्टि बदल जाए और दृष्टि बदल जाए तो सृष्टि बदल जाए।" तो हम लोग अपने को बिगड़ा हुआ रख कर दृष्टि को सुन्दर करना चाहते हैं, कि सब में भगवत् स्वरूप अपने प्यारे का दर्शन क्यों नहीं होता है? तो भीतर में भेद रखो और दृष्टि में भगवत्स्वरूप का दर्शन चाहो, तो यह कैसे होगा? अपने को बिगाड़ करके दृष्टि को सुन्दर बना नहीं सकते। मानव-सेवा-संघ के उद्देश्य की पूर्ति में अपने कल्याण और सुन्दर समाज के निर्माण में सबसे आवश्यक बात यह है कि व्यक्तिगत सत्संग को महत्त्व दे करके अपने को सुन्दर बनाया जाए। आप सुन्दर हो जाएँगे तो दृष्टि सुन्दर हो जाएगी और दृष्टि सुन्दर हो जाएगी तो सृष्टि सुन्दर दिखाई देगी।

●

प्रवचन 19

सत्संग प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो !

अहं रूपी अणु जिसको हम लोग सेल्फ *(Self)* कहकर सम्बोधित करते हैं, 'मैं' कहकर सम्बोधित करते हैं उसकी बड़ी विचित्र कथा है। वह बना हुआ है अलौकिक तत्त्वों से और ईश्वरीय विभूतियाँ बीज रूप से उसमें विद्यमान हैं। जब से इसको "मैं" कहकर सम्बोधित करना आरम्भ किया, तब से न जाने इस सीमित अहंभाव के अभिमान से उसमें कितने विकार भर गए। ऐसी इसकी विचित्र दशा है कि जब विकारों से आक्रान्त हो जाओ—तब क्या जाने इसकी कैसी शक्ल बन जाती है और जब मौलिक तत्त्वों से प्रभावित हो जाओ तो उसकी सुन्दरता, उसकी शुद्धता, उसकी मधुरता निखर जाती है। हम सभी भाई-बहन इन दोनों दशाओं में झूल रहे हैं।

एक मनोवैज्ञानिक प्रयोग में एक प्राणी के दोनों ओर आकर्षक वस्तुएँ रख दी जाती हैं और यह देखा जाता है कि वह कितना इस आकर्षण में झूल रहा है। किधर उसकी रुचि ज्यादा है। तो वह प्राणी जिसको दोनों ओर आकर्षण लग रहा है, बेचारा न इधर की वस्तु पकड़ सके, न उधर की। बार-बार इधर-उधर झूलते-झूलते वह थककर शिथिल होकर के अर्धचेतन की तरह पड़ जाता है।

हम लोगों की दशा भी बिल्कुल ऐसी ही है। एक बार संसार का आकर्षण खींचता है तो भीतर के प्रकाश पर पर्दा डाल दिया कि अच्छा, देखेंगे ज्ञान-ध्यान की बात को, फिर कभी सोच लेंगे। अभी सामने यह अनुकूलता आई है तो इसका सुख ले लें। सुख-भोग में फँसने से पहले

भगवान् की, धर्म की, त्याग और शान्ति की बात याद आ गई, तो इधर से अपने को हटाया। फिर सब प्रकार से इधर का सम्बन्ध काट कर एकदम सत्य की ओर बढ़ने की घड़ी आई। तो उसी काल में संसार के आकर्षण ने जोर मारा और व्यक्ति फिर इधर झुक गया। जब सत्य की जिज्ञासा जोर मारती है तो सत्संग पसन्द आ जाता है और सत्संग में रहते हैं, बड़ा आनन्द आने लगता है। और इसी बीच में याद आ गया कि बच्चे घर में प्रतीक्षा करते होंगे, होली के पर्व पर उनके पास नहीं रहने से अच्छा नहीं लगेगा, तो भाई यहाँ से गठरी समेटो और चलो उधर। इधर-उधर करते-करते कुछ नहीं मिलता। सच है—"दुविधा में दोनों गये, माया मिली न राम।"

परन्तु मनुष्य के जीवन की एक बड़ी भारी विशेषता भी है—वह यह है कि फँसावट कितने ही दिनों की पुरानी क्यों न हो जाए अगर उसे वर्तमान में सूझ गया कि अविनाशी जीवन प्राप्य है और नाशवान की ओर से अपने को हटा लेना ही मौलिक उपाय है, तो इस बात को अपने द्वारा सही स्वीकार कर लेने के बाद वह अपने भविष्य का निर्माण कर सकता है। उसे पशु की भाँति दोनों ओर झूलना नहीं चाहिये। थोड़ा-सा अपने पर जोर डालने से जो लगाव केवल संकल्प के कारण बन गया है, उसको टूटने में देरी नहीं लगती, वह टूट जाता है। और जो लगाव सत्य है, सनातन है, कभी टूटा ही नहीं, कभी मिटा ही नहीं, कभी टूटेगा भी नहीं—वह बिल्कुल ही प्रत्यक्ष और स्पष्ट हो जाता है।

फँसे हैं हम लोग किसमें? उस मिथ्या लगाव में जो कि कभी भी यथार्थ रूप में जुड़ा नहीं। संसार की ओर का आकर्षण जो हम लोगों का है वह भ्रम के आधार पर है। वस्तुतः संसार की वस्तुओं से हमारा रचनात्मक सम्बन्ध *(Structural Relation)* कभी नहीं हुआ। रचना की

दृष्टि से इसके साथ लगाव कभी नहीं हुआ। केवल हमने अपने को थोड़ा ढीला कर दिया और अविनाशी जीवन की ओर से आँखें बन्द कर ली हैं। दृश्य के संयोग का जो थोड़ी देर का क्षणिक सुखद आभास है उसे स्वीकार कर लिया, तो इस स्वीकृति से उसका लगाव बन गया। इसको क्रियात्मक सम्बन्ध *(Functional Relation)* कहा जा सकता है। इस प्रकार यह क्रियात्मक सम्बन्ध बन जाता है और ज्ञान के प्रकाश में यह सम्बन्ध टूट कर सदा के लिए समाप्त हो जाता है। फिर जिसके साथ जातीय एकता है, नित्य सम्बन्ध है, आत्मीय सम्बन्ध है उससे हमारा लगाव सजीव हो जाता है। वह जो सत्य तत्त्व है, नित्य तत्त्व है, परम प्रेमास्पद परमात्मा है, उसके साथ जो अपना लगाव है, खिंचाव है, वह बनाया हुआ नहीं है, उत्पन्न किया हुआ नहीं है, हमारी बहादुरी का परिणाम नहीं है, अपितु वह मूल में ही है। जब यह अहं रूपी अणु अर्थात् "मैं" उसकी ओर से आँख हटा करके उससे अपने को बिछुड़ा करके जिससे नित्य सम्बन्ध नहीं है उसको पकड़ने की चेष्टा में लग जाता है, तो दीनता, अभिमान, सम्मान, अपमान, सुख-दुःख, संयोग-वियोग, जन्म-मरण में फँस जाता है। लेकिन इसी वर्तमान घड़ी में, अगर हम सचमुच सत्संगी हैं और सत्संग के प्रभाव से सदा-सदा के लिए दुःख-निवृत्ति चाहते हैं, तो यहीं पर बैठे ही बैठे हम लोगों को भीतर ही भीतर इस बात का फैसला कर लेना चाहिए कि जो सम्बन्ध नित्य हो नहीं सकता, सदा के लिए अलग ही है, केवल संकल्प से ही बन गया है और छोड़ने से छूट जाएगा, उसको आज ही इसी बैठक में यहीं पर छोड़ करके हम लोगों को उठना चाहिए।

स्नायु-मण्डल के अध्ययन में यह तथ्य पाया जाता है कि स्नायुकोष एक-दूसरे से जुड़े हुए नहीं हैं। वे *Overlapping Condition* में होते हैं अर्थात् इनकी तह लगी रहती है। जब कोई संवेदना बाहर से भीतर

मस्तिष्क की ओर ले जानी होती है तो संवेदना का वेग एक में से दूसरे में जाता है और क्रियात्मक सम्बन्ध दोनों में बन जाता है। जब काम खत्म हो जाता है तो फिर दोनों अलग-अलग हो जाते हैं। ऐसे ही शरीर और संसार के साथ हमारा लगाव रहता नहीं है। पहले भी नहीं था, अब भी नहीं है। लेकिन जब हमारे भीतर कोई संकल्प उठता है तो वह संकल्प हमें शरीरों और संसार की वस्तुओं के साथ जोड़ देता है। जब हम संकल्परहित हो जाते हैं तो लगाव छूट जाता है।

मेरे संकल्प में है कि मैं जीवन के सत्य को बड़े सुन्दर ढंग से भाई-बहनों के सामने रखूँ तो मेरा यह संकल्प मेरी वृत्ति को स्वर यन्त्र के साथ जोड़ देता है और मैं बोलने लगती हूँ। आपका सुनने का संकल्प है तो आपकी वृत्ति जुड़ जाती है ध्वनि-यन्त्र के साथ। तो कहना-सुनना हो रहा है। कहना समाप्त हो जाए और उसके साथ असंगता आ जाए तो तुरन्त ही सारी वृत्तियाँ सिमट करके भीतर ही जाकर अपने उद्गम से जुड़ जाएँ—उसको कहते हैं नित्य योग। अपने परम प्रेमास्पद के प्रेम-भाव में लीन हो जाएँ तो उसको कहते हैं भक्ति योग। और सुनने का काम खत्म हो गया; आपने सुन लिया कि शरीर और संसार के साथ नित्य सम्बन्ध नहीं है, आवश्यकता के अनुसार सम्बन्ध बन जाता है और काम खत्म होने से टूट जाता है। इसको अगर हमने स्वाभाविक बना लिया तो सारी वृत्ति सिमट करके अन्तर्मुख हो जाएगी और सुनने के बाद न सुनना, बोलने के बाद न बोलना, काम करने के बाद कुछ न करना, अप्रयत्न होकर, अहं-वृत्ति रहित होकर, नित्य तत्त्व से नित्य योग में परमानन्द को पाना हो सकता है। यह जीवन की बहुत ही स्वाभाविक, वैज्ञानिक, दार्शनिक और आस्तिक दृष्टि से सच्ची बात है।

जीवन में रस घटता है कब? जब बाहर-बाहर उसको खर्च करने लगते हैं तब। और भीतर-भीतर रस बढ़ता है कब? जब अपने को रस के अथाह सागर से जोड़ देते हैं तब। इतनी-सी बात है। जो कभी न घटने वाला *Reservoir of Life* है, जीवन-स्रोत है, उसमें से प्रवृत्त जिन्दगी कभी घटती नहीं है। उसमें से सामर्थ्य और प्रकाश कभी घटता नहीं है। उसी में से हम लोग निकले हैं और उसके साथ अपना तार कभी टूटता नहीं है, सम्बन्ध कभी छूटता नहीं है। केवल हमारी दृष्टि उस पर नहीं है, इसलिए उसमें जो रस प्रवाहित हो रहा है उसकी मधुरता, उसकी मिठास अपने स्वाद में नहीं आती।

अपनी जानकारी में क्या है? कि मैं बड़ा धनवान हूँ, बड़ा बुद्धिमान हूँ, बड़ा बलवान हूँ, बड़ा बढ़िया साधक हूँ, बड़ा जपी हूँ, बड़ा तपी हूँ, बड़ा त्यागी हूँ, बड़ा सेवक हूँ। यह वास्तविक जीवन से विमुखता की दशा है, इसमें रस घट जाता है। यह "मैं पन" का आभास अहं का अभिमान कहलाता है। इससे थोड़ी कठोरता आ जाती है और नीरसता बढ़ जाती है, तो उसमें रस का जो संचार है वह अनुभव में नहीं आता है, यद्यपि वह टिका हुआ है उसी रस पर। उस रस के बिना यह अणुओं का संगठन रह नहीं सकता। तो टिका तो है उसी के आधार पर, लेकिन सख्ती आ जाने के कारण से रस का संचार नहीं होता। यह घाटा लगता है अपने को।

मैंने सन्त की कृपा से, भगवत् कृपा से और सत्संग के प्रभाव से ऐसा जाना है कि एक बार भी साधक के भीतर उस "स्व" रस के संचार का अनुभव हो जाए, तो दुनियाँ के सब रस फीके हो जाते हैं। होता है ऐसा। साधन काल में होता है। सिद्धि की बात मैं नहीं जानती। जीवन पूर्ण हो जाए, साधना पूर्ण हो जाए और साधक अपने साध्य से अभिन्न

हो जाए, तब तो वह कुछ कहने-सुनने की स्थिति में रहेगा ही नहीं। मैं तो साधन-काल की बात कर रही हूँ कि अगर दृष्टि बदल गयी होती, तो आपके शान्तिकाल में यह अनुभव में आ जाता कि जब बाहर से हम अपने को समेट लेते हैं तो अपने ही "स्व" में से उस रस का संचार होता है जो कि मन को, तन को, इन्द्रियों को, बुद्धि को, आन्तरिक और बाह्य सभी करणों को बिल्कुल भरपूर कर देता है। उस रस का आस्वादन एक बार भी हो जाए तो फिर दुनियाँ का कोई रस उसके आगे कुछ नहीं लगता है।

आनन्द में आकर मीराजी कहती हैं—

"भवसागर सब सूख गयो है, फिकर नहीं मोहे तरनन की
मोही लागी लगन हरि चरणन की"

प्रभु की प्रीति, प्रभु की भक्ति ने एक बार रस से सराबोर कर दिया तो फिर दुनियाँ दिखेगी भी नहीं और दिखी भी तो उसमें अपने प्यारे के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलेगा।

प्रभु के नाते आप सभी मेरे आत्मीय हैं। आप सभी भाई-बहिनों की सेवा में यह निवेदन करके विश्वास दिलाना चाहती हूँ कि सचमुच जो आप ही में विद्यमान है उसके प्राकट्य में संदेह मत रखिए। संदेह रखिएगा तो वह पर्दा कभी खुलेगा ही नहीं। तो संदेह मत रखिए। बाहर से जिसको जो कुछ मिल गया उस पर आस्था मत रखिए। जो मिला हुआ दिखाई देता है, किसी भी समय में खत्म हो सकता है। तो जो बाहर-बाहर दिख रहा है उसमें आस्था मत रखिए। जो भीतर-भीतर है वह कैसे प्रकट होता है? कैसे उसका अनुभव होता है? तो स्वामीजी महाराज ने बड़ा अच्छा और बड़ा सच्चा उपाय हम लोगों को बताया कि भाई, वह अनमोल आनन्द, प्रेमरस, जो जीवन का खजाना है, वह खुलता है कैसे? "कुछ नहीं करने

से।" व्रत करो, उपवास करो, दान करो, काम करो, तीर्थ यात्रा करो, जो भी कुछ करना है करो, लेकिन करते-करते न करने की घड़ी आनी चाहिये।

बाहर और भीतर की सारी वृत्तियाँ कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ सब सिमटकर भीतर एक बिन्दु पर केन्द्रित हो जाएँ तो वे अपने उद्गम से जुड़ जाती हैं। कब जाकर के जुड़ जाएँगी और कब यह सीमित अहं उसमें जाकर विलीन हो जाएगा, यह तो प्रभु का मंगलमय विधान जाने, कि हमारी तैयारी कब पूरी होगी। लेकिन आज जिस समय आप संसारी कार्यों में लगे हुए हैं, इस बीच में थोड़ी-थोड़ी देर के लिए शान्त रहने का स्वभाव बनाएँ। सम्पूर्ण जीवन की सारी गतिविधि उस एक लक्ष्य पर केन्द्रित करें कि हम साँस ले रहे हैं तो इस बात के लिए कि हम मिथ्या लगाव में से अपने को छुड़ा लेंगे। जो *Main Reservoir of Life* है, *Main Spring of Life* है जो जीवन का मूल स्रोत है, जो आनन्द का अथाह सागर है, जिससे हमारा सम्बन्ध कभी टूटा ही नहीं, उसी के सन्मुख होने की बात है।

विमुखता काल में मिट्टी पलीत हो जाती है और सन्मुखता-काल में सिद्ध होने से पहले, ईश्वरीय विभूतियाँ आपके भीतर ही भीतर प्रकट होकर आपको बलिष्ठ बनाती चली जाती हैं और शान्ति आती जाती है। और प्रियता के रस की तो क्या कहूँ! उसका एक ही कण जब सारे संसार को सम्हालने के लिए पर्याप्त है। तो हमारे जैसे तुच्छ प्राणी को एक ही कण मिल जाए, तो बड़ा अच्छा रहेगा, बड़ा आनन्द रहेगा। वह हमारे जन्म-जन्मान्तर के ताप को मिटा कर, अतृप्ति को भर करके ऐसा बना देगा, ऐसा बना देगा कि जैसा हमारी कल्पना में भी नहीं आ सकता। तो रसरूप है जीवन। और रस के अभाव में हम कहाँ-कहाँ भटक रहे हैं? इसी विडम्बना को मिटाना है।

सन्त कबीर ने एक पद में लिखा है "पानी बिच मीन पियासी मोहे सुनि सुनि आवे हाँसी।" रस स्वरूप परमात्मा में से उद्भूत हुए हम रस स्वरूप परमात्मा में स्थित हैं। उन्हीं के द्वारा सुरक्षित, संचालित, पालित हैं और रस के अभाव में कहाँ-कहाँ भटकते फिर रहे हैं! तो इस दशा को मिटाना हम लोगों के लिए आवश्यक है जिसमें लगता है कि हम उससे बिछुड़ गए हैं। उस रस स्वरूप परमात्मा से हम बिछुड़ गए हैं, यह सत्य नहीं है। यह केवल भ्रम है, क्योंकि बिछुड़ जाते तो हमारी सत्ता ही नहीं होती। वह जो हमारा उद्गम है, *Generation of life* है, उससे एक क्षण के लिए भी सम्बन्ध टूट जाए तो हमारी सत्ता खत्म हो जाती, अस्तित्व ही नहीं रहता। तो किसी भी काल में सम्बन्ध टूटा नहीं है और न कभी टूटेगा। वह टूटने वाला है ही नहीं। दृश्य से जो सम्बन्ध जुड़ा हुआ प्रतीत हो रहा है वह भी कोरा भ्रम है।

परमात्मा से कभी सम्बन्ध टूटा नहीं, मिटा नहीं, छूटा नहीं, टूटेगा नहीं। वे तो छोड़ते ही नहीं हैं, वे कैसे छोड़ेंगे। स्वामीजी महाराज अपने शानदार व्यक्तित्व के प्रभाव में आ जाते तो कहते कि परमात्मा की हिम्मत नहीं है कि हमसे सम्बन्ध तोड़ दें और अपनी करुणा की गोद से निकाल कर हमको फेंक दें। अगर ऐसा कर सकेंगे तो अनन्त माधुर्यवान् का उनका विशेषण खत्म हो जाएगा। अनन्त माधुर्यवान् किसको कहते हैं? जो केवल अपने स्वभाव से ही पतित से पतित को भी अपनी करुणा से सम्हाल कर रखता है। हम पतित से पतित हो सकते हैं लेकिन उनके अनन्त माधुर्य की जो विशेषता है, उसको वे खत्म नहीं करेंगे।

यह जो जीवन का सत्य है वह वस्तुतः नकद भुगतान *(Cash Payment)* के समान है। आँख बन्द करेंगे, कि कान बन्द करेंगे, एकान्त में घुसेंगे कि साउण्डप्रूफ अर्थात् जिसमें बाहर की आवाज न घुस सके,

ऐसा कमरा बनाएँगे, कि पहाड़ की गुफा में जाएँगे, जिसके लिए जो जरूरी होगा मंगलमय विधान से वैसी ही परिस्थिति बनती जाएगी। उसके लिए अपने का कुछ सोचना नहीं है। स्वामीजी महाराज की करुणा देखिये। वे कहते थे कि देवकीजी ! अल्प समय है, अल्प आयु है, अल्प सामर्थ्य है, अगर यहीं बैठे-बैठे साधक बिल्कुल फ्री अर्थात् आजाद हो करके यहाँ से न उठे, तो क्या सत्संग हुआ? अगर उसके सामने यह प्रश्न आ जाए कि जिस घर में माया-मोह के घेरे में फंसे हैं, उसको छोड़ करके बिल्कुल एकान्त में कुटिया बना करके नहीं बैठेंगे, तो सत्य नहीं मिलेगा। इस परिस्थिति के चिन्तन में पड़ा रहे कि कैसे इन्तजाम हो और अगर इसी बीच में साँस टूट गयी तो? तब तो मामला बिगड़ जाएगा।

स्वामीजी महाराज बाह्य परिस्थितियों को सम्हालने की बात तो दूर, अप्राप्त परिस्थितियों के चिंतन में भी हम लोगों का समय खराब करना पसन्द नहीं करते थे। अरे भाई, सत्य का शोधक, प्रभु का शरणागत और अप्राप्त परिस्थितियों के चिंतन में फँस जाए? उन्होंने साधकों की अल्प सामर्थ्य और अल्पायु को ध्यान में रखकर इस बात की चेष्टा की कि आपके भीतर जो सत्य विद्यमान है उसकी सरसता को अनुभव करने के लिए आप परिस्थितियों के फेर में मत पड़िए। परिस्थितियों के फेर में पड़नें पर आदमी सत्य के विद्यमान होने का अनुभव कर लेता हो—यह भ्रम ही है।

इसलिए मानव-सेवा-संघ की साधन-पद्धति में भीतर विद्यमान सत्य की अभिव्यक्ति को बाहर की किसी भी परिस्थिति से जोड़ा नहीं गया। क्यों नहीं जोड़ा गया? क्योंकि यह अनावश्यक है और हानिकारक भी। दोनों ही बातें हैं—जरूरत भी नहीं है और नुकसान देने वाली बात भी है।

आप सभी भाई-बहन इस बात पर पूरा ध्यान दें कि साधन-काल में जिस दिन से आपने स्वामीजी महाराज की सलाह मानकर प्रभु से आत्मीय सम्बन्ध को स्वीकार किया है उसी दिन से अहं रूपी अणु में परिवर्तन आरम्भ हो गया होगा। लेकिन उसमें इतनी सजीवता आ जाए कि उनकी उपस्थिति के अनुभव से हम सब निश्चिन्त हो जाएँ, निर्भय हो जाएँ, सरस हो जाएँ—इस दिशा में प्रयत्नशील भी हो जाना चाहिए जो केवल क्रियात्मक सम्बन्ध है, केवल संकल्प मात्र से जुड़ जाता है, उसको तोड़ दें और जो सदा-सदा का सम्बन्ध है, उसको सजीव बना लें।

इसी विषय को दृढ़ बनाने के लिए व्यक्तिगत सत्संग और मूक सत्संग की चर्चा हो रही है। मूक सत्संग का अर्थ होता है कि सब प्रकार से अप्रयत्न होना और व्यक्तिगत सत्संग का अर्थ होता है सत्-असत् पर विचार करके मूक सत्संग में प्रवेश पाना। दोनों इकट्ठे शुरू किये जा सकते हैं। पहले व्यक्तिगत सत्संग करें। अपने द्वारा अपने इस निर्णय को दोहरा करके उसका प्रभाव अपने पर होने दें "कि मेरा नित्य सम्बन्ध केवल परमात्मा से है।" "केवल" शब्द बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। वह सम्बन्ध सदा-सदा से है और सदा-सदा तक रहेगा। आज हमको इस सम्बन्ध में सरस अनुभव से वंचित रहना पड़ा, तो इसको मिटाने के लिए अन्य विश्वासों का त्याग कर देंगे, अन्य सम्बन्धों का त्याग कर देंगे, अपना कोई संकल्प नहीं रखेंगे और जिन परम प्रेमास्पद समर्थ स्वामी के हवाले हमने अपने को किया है अब उन्हीं के होकर रहेंगे। इन सब बातों को याद करना, यह व्यक्तिगत सत्संग के भीतर आएगा और यह सब याद कर लेने के बाद—'हे समर्थ स्वामी ! मैं आपकी शरण हूँ। ऐसा कहकर अपने को कुछ देर के लिए बिल्कुल छोड़ देना'—यह मूक सत्संग के भीतर आएगा। तो दोनों को साथ लेकर चलना है।

निर्भय होकर, निष्काम होकर प्रभु के आत्मीय सम्बन्ध को स्वीकार करना तो एक ही बार होगा। बारम्बार स्वीकृति की कोई बात नहीं है। याद कर लेना होगा उसको। याद करके प्रभु की शरण में अपने को छोड़ करके बिल्कुल अबोध बालक की तरह उनकी कृपा की प्रतीक्षा में पड़े रहो। कृपा तो हो ही रही है। पहले से हो रही है, वही हमको सम्हाल कर रख रही है। उनकी कृपा का सहारा तो अपने को सब समय है। लेकिन आप भाई-बहन उस परम कृपालु की नित्य उपस्थिति में विश्वास करके, थोड़ी देर के लिए व्यक्तिगत सत्संग में और मूक सत्संग में रहना आरम्भ कीजिये। उनकी कृपा की प्रतीक्षा जब भीतर से जगेगी, तो वह किस प्रकार भीतर-बाहर भर रही है और हमारे मैल को धो करके हमें निर्मल कर रही है, इस बात का अनुभव इसी वर्तमान में आप भाई-बहनों को होगा।

अब शान्त हो जाइए थोड़ी देर के लिए।

प्रवचन 20

सत्संग प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो !

जिस जीवन की माँग है, उसकी आवश्यकता हम सब लोग महसूस करते ही रहते हैं। उसकी पूर्ति के उपाय क्या हैं? स्वामीजी महाराज ने दो उपाय बताए—एक हरि-आश्रय और दूसरा विश्राम। हरि-आश्रय ईश्वर-विश्वास की दृष्टि से वास्तविक जीवन की अभिव्यक्ति के लिए अचूक उपाय है और विश्राम सभी साधकों के लिए समान रूप से अनिवार्य है। हरि-आश्रय और विश्राम, ये दोनों ही उपाय किसी विशेष सम्प्रदाय के लिए, मजहब, मत, पंथ के लिए हों, ऐसा नहीं है। जितने भी साधक हैं, जिनको कि अविनाशी जीवन की माँग है, सबके लिए ये समान रूप से उपयोगी उपाय हैं।

वस्तुत: जहाँ थोड़ा भी श्रम है, स्थूल अथवा सूक्ष्म, उसके रहते हुए शरीरों से असंग होना सम्भव नहीं है। जहाँ थोड़ा भी श्रम है वहाँ अशरीरी जीवन में प्रवेश पाना सम्भव नहीं है। तो श्रम करो विश्राम पाने के लिए और जब विश्राम का सम्पादन होगा तो वास्तविक जीवन मिलेगा। यह एक ऐसा क्रम है जो सभी के लिए समान रूप से अनिवार्य है, क्योंकि शरीर-विज्ञान, मनोविज्ञान और दार्शनिक सत्य तथा आस्तिकता का सत्य मानवमात्र के लिए समान रूप से लागू होता है। ऐसा नहीं कि जो अपने को सनातन धर्म के मानने वाले कहते हैं उनके लिए विश्राम अपेक्षित है और जो लोग अपने को आर्यसमाजी कहते हैं उनका विकास बिना विश्राम के हो जाए, ऐसा नहीं हो सकता। शब्दों का प्रयोग चाहे जैसे भी किया जाए और विश्राम शब्द का प्रकाशन चाहे जिस शैली में किया जाए, लेकिन सभी साधकों के साधना-युक्त जीवन का यह एक ऐसा अपरिहार्य तत्त्व है कि जिसको छोड़कर कोई भी अशरीरी जीवन में प्रवेश नहीं कर सकता।

विश्राम सभी को आवश्यक मालूम होता है। क्यों? क्योंकि परिश्रम करके सब लोग थकित होते ही हैं। यदि किसी प्रकार की कोई समस्या खड़ी हो जाए और उसका समाधान नहीं सूझे, तो हम लोग थकते हैं। इच्छाओं की उत्पत्ति हो जाए तो उनकी पूर्ति के इंतजाम में हम लोग लग जाते हैं और विधि के विधान से संकल्प पूरा हो जाए तो उसके सुख-भोग में भी हम थकते हैं। सुख-भोग की प्रवृत्ति मनुष्य में शक्तिहीनता लाती है। किसी भी सुखभोग की प्रवृत्ति में लगातार लगे रहो तो थकान आएगी ही—यह वैज्ञानिक सत्य है। इसके लिए किसी ग्रन्थ का प्रमाण खोजने की जरूरत नहीं है। सुख-भोग की प्रवृत्ति सुखद लगती है और उसके परिणाम में जब शक्तिहीनता आती है तब बुरा लगता है। शक्तिहीनता किसी को भी पसन्द नहीं है। इसलिए जो अपने को साधक कहता है और जिसको खूब विश्राम चाहिए, परम शान्ति चाहिए, उसका पहला प्रयास होगा कि वह अपने को किसी प्रकार की भोग-प्रवृत्ति के द्वारा शक्तिहीन न बनावे।

यदि भोग-प्रवृत्ति की ओर से हम लोगों ने अपने को संयत कर लिया, थोड़ा नियमित कर लिया, तो उस हानि से बच गये। मन बहलाव के फेर में पड़कर शक्तिहीन नहीं बनेंगे, थकान नहीं आने देंगे, तो उससे बच जाएँगे। बहुत छोटी-छोटी बातों पर साधक भाई-बहनों को इस बात पर दृष्टि रखनी चाहिये कि किसी तरह से भोग-प्रवृत्ति में शक्तियों का ह्रास न हो। जब शक्ति बची रहेगी तब उससे बड़ा उपकार होगा। क्या उपकार होगा? कि जब भोग से शक्ति बच जाएगी तो वह कर्त्तव्य-पालन में लग जाएगी और जब वह शक्ति कर्त्तव्य-पालन में लग जाएगी तो आप वीतराग होने के अधिकारी बन जाएँगे। सुख के फेर में पड़ा हुआ व्यक्ति कर्त्तव्यनिष्ठ नहीं होता और कर्त्तव्यनिष्ठ हुए बिना वीतराग होने की सामर्थ्य नहीं आती और सामर्थ्य नहीं आयी तो आगे बढ़ना सम्भव ही नहीं होगा।

मानव-सेवा-संघ की चर्चा में सिद्ध जीवन की चर्चा बहुत कम है क्योंकि महाराजजी ने उसे चर्चा का विषय माना ही नहीं। वह तो अनुभव का विषय हो गया और हमारी आपकी जो वर्तमान दशा है, जहाँ से हमें कदम उठाना है, जहाँ से हमें आगे बढ़ना है, वहाँ से चर्चा आरम्भ होती है। तो पहली बात हो गयी कि भोग-प्रवृत्ति के द्वारा अपने को शक्तिहीन नहीं बनाना है। संयमित कर लो, नियमित कर लो, बच जाओ उससे, तब उसके आगे बढ़ सकोगे। सुख-भोग की प्रवृत्ति की थकान तो शरीर के स्थूल स्तर पर होती है, उसको आसानी से मिटाया भी जा सकता है। लेकिन सुख-भोग का लालच, जो अति सूक्ष्म है भीतर से उसको भी निकालिए, क्योंकि वह रहेगा तो उसके भार से वृत्तियों को एक केन्द्र पर केन्द्रित करना सम्भव नहीं होगा। जीवनी शक्ति विविध रूपों में बँटकर वृत्तियों से जुड़ जाती है और धीरे-धीरे शक्तियों का ह्रास होने लग जाता है। तो भीतर से सुख-भोग का लालच भी हटा देना चाहिए, उसकी पसन्दगी भी हटा देनी चाहिए। तो क्या करेंगे? क्या भूख लगने पर खाएँगे नहीं? कि नींद आने पर सोएँगे नहीं? ऐसा नहीं है।

उसका अर्थ यह होता है कि सुख-भोग की प्रवृत्ति को तुम अपना जीवन मत मानो। शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से अगर कोई हितकर और स्वास्थ्यकर वस्तु खाने के लिए दी जाये तो उसको जीवन-बुद्धि से स्वीकार मत करो। ऐसा मत सोचो कि अहा! बड़ा स्वाद आया, अब यही हमको रोज मिलना चाहिए, ऐसी स्वादिष्ट वस्तु खाना ही जीवन है। शरीर की सेवा के लिए जो सहज प्राप्त हो जाए उसकी आहुति शरीर में डालकर उससे तुम निश्चिन्त हो जाओ। यह उदाहरण मैं आपके सामने इसलिए रख रही हूँ कि कहीं ऐसा मत सोचने लगिएगा कि हर सुखद प्रवृत्ति से बंधन में बँधता है आदमी। तो भूख लगने पर भोजन न करेंगे? अच्छी भूख लगी हो, स्वास्थ्य अच्छा हो, तो बहुत सादी रोटी भी खाने में बड़ी

मीठी लगती है। तो इसका मतलब यह नहीं कि अपना ज्ञान भंग हो गया, कि साधना भंग हो गयी। इसका मतलब यह है कि स्वास्थ्य अच्छा है, वस्तु अच्छी है। वस्तु को वस्तु के हवाले कर दो और तुम अपनी सजगता बनाये रखो। दैनिक जीवन में शरीर की सेवा का जो सामान्य व्यवहार है उसमें कोई सन्देह रखकर उलझन में नहीं पड़ना चाहिए। लेकिन बहुत अच्छी तरह से इस बात को जानना चाहिए कि जो प्रवृत्ति हमारी चल रही है, उसमें शरीर की सेवा की दृष्टि कितनी है और सुख की दृष्टि कितनी है। यदि सुख-बुद्धि उसमें न रखकर सेवा-बुद्धि से काम किया जायेगा, तो बन्धन नहीं बनेगा, राग नहीं बनेगा।

जब तक वास्तविक जीवन का अनुभव अपने को नहीं होता है, जब तक अपनी सारी वृत्ति उस रस से सरस होकर जुड़ नहीं जाती है, तब तक शरीरों के स्तर पर स्वाद-बेस्वाद, खट्टा-मीठा, नमकीन और फीका, इन सब स्वादों का पता चलता है। अन्यथा स्वरस में डूबे हुए आदमी को पता ही नहीं चलता है कि जो मुख में जा रहा है वह खट्टा है, मीठा है, कि फीका है। ऐसा कब होता है? लक्ष्य पर दृष्टि रहे, तब होता है। प्रभु के मंगलमय विधान पर निष्ठा रहे, तब होता है। आदमी स्वरस में डूबा रहे, तब होता है। प्रभु प्रेम की प्रतीक्षा में डूबा रहे, उत्कंठा में लगा रहे, तब होता है। तब न दिन का पता चलता है, न रात का, न स्वाद का पता चलता है, न कुछ करने का और न ही कुछ नहीं करने का।

ये बातें साधक के जीवन में बहुत स्वाभाविक होनी चाहिए। इसके लिए अपनी वर्तमान दशा का पता लगाना हर साधक के लिए बहुत जरूरी बात है। उसे संकल्प को महत्त्व नहीं देना चाहिए, न उसका समर्थन करना चाहिए, न उसके अनुसार प्रवृत्ति करनी चाहिए। बल्कि खोज करनी चाहिए अपनी, क्योंकि विश्राम जहाँ मिल सकता है वह अपने भीतर ही है उससे विमुख होकर पराश्रय और पराधीनता में, "पर" की ओर दौड़ने में श्रम है

और "स्व" की ओर उन्मुख होने में विश्राम है। इस सत्य को स्वीकार कर इसका अनुसरण किया जाए, तो शनैः-शनैः अशान्ति कम होती चली जाएगी, थकान कम होती जाएगी।

अब अपनी दशा क्या है कि अगर कोई संकल्प हुआ और वह अशुभ नहीं है, किसी को नुकसान पहुँचाने वाला नहीं है और उसकी पूर्ति की परिस्थिति है, तो संकल्प-निवृत्ति की शान्ति और विश्राम पर दृष्टि नहीं जाती। अगर संकल्प-पूर्ति की सम्भावना है, तो संकल्प-पूर्ति के सुख पर दृष्टि चली जाती है। लेकिन करना क्या चाहिए? संकल्प-निवृत्ति पर दृष्टि रखनी चाहिए, जहाँ कि अपने को विश्राम मिलेगा। विश्राम में ही जीवन है।

सबसे बड़ी बात क्या है कि अनुकूल परिस्थितियों में भी हर व्यक्ति के भीतर एक अभाव खटकता रहता है। ऐसी स्थिति में जो सामर्थ्यवान हैं, जिनके पास पैसा है और जिनके पास शरीर में बल है और जिनकी परिस्थितियाँ अनुकूल हैं वे क्या करते हैं कि संकल्प-पूर्ति से भीतर-भीतर जब अभाव लगता है तो बाहर-बाहर के मन बहलाव के प्रोग्राम बनाते हैं। बड़ी व्यस्तता से बड़े-बड़े उपाय करते हैं। मनुष्य की इस दशा पर मुझे बड़ा दुःख होता है। मैं कहती हूँ कि हाय रे मनुष्य! तुझे जो चाहिए वह अपने भीतर ही में है और उस पर दृष्टि न रखने के कारण कहाँ-कहाँ जिन्दगी को खतरे में डालकर अपना मन बहलाव करता फिरता है। जो रस स्वरूप है, जो जीवन स्वरूप है, उससे विमुख रहने के कारण व्यक्ति के भीतर रह-रहकर अभाव सताता है और जब-जब अभाव सताता है, तो प्रतिकूल परिस्थिति में पड़ा व्यक्ति झख मारता है और रोता है और अनुकूल परिस्थिति में पड़ा हुआ व्यक्ति विपरीत दिशा में दौड़ता है।

अब तक की जिन्दगी जो हम लोगों की बीती है उसके आधार पर विचार कर बताइए कि जिन सुखद घड़ियों को आपने देखा है, उनको देखने

के बाद भी क्या आप कह सकते हैं कि मैं सब प्रकार से पूर्ण कृतकृत्य हो गया ? हे ईश्वर ! मुझे अब कुछ नहीं चाहिए ? शायद नहीं कह सकेंगे। बड़ी दयनीय दशा होती है कि सुखद घड़ियों के अवसर जैसे-जैसे घटते चले जाते हैं, शक्ति कम होती चली जाती है, समाज में स्थान घट जाता है, परिवार में भी महत्त्व कम हो जाता है, क्योंकि नई पीढ़ी ने सब कारोबार अपने हाथ में ले लिया। अब आपकी सलाह की भी किसी को जरूरत नहीं रही। तो वृद्धावस्था में, असहाय अवस्था में आकर अभाव की पीड़ा अधिक सताने लगती है। अतः शुरू से ही जब अपने भीतर अभाव लगे, तो सावधान हो जाइए। अभाव अनुभव करने से बड़ी मदद मिलती है।

अभाव से पीड़ित होकर जब मैं सन्त के पास पहुँची, तो उन्होंने सब प्रकार से मेरे सब सन्देहों का निवारण कर दिया। मनुष्य के भीतर जो अभाव सताता है, वह न विधान का दोष है, न परमात्मा का दोष है। वह कोई स्थायी बीमारी भी नहीं है कि जिसका नाश न हो। वह तो इस बात को याद दिलाने के लिए है कि सचमुच जो तुम्हारा स्वरूप है, उससे तुम विमुख हो गए हो। सचमुच जो तुम्हारा अपना प्रियतम है, उससे तुम बिछुड़ गए हो। जिस रस के तुम अधिकारी हो, उससे तुम विमुख हो गए हो। इसलिए भीतर से जब अभाव सताने लगे, तो बाहर से मन-बहलाव की चेष्टा मत कीजिए। इस विषय पर मनोविज्ञानवेत्ता कहते हैं कि नीरसता में जिन्दगी बिताओगे तो मानसिक विकृति पैदा हो जाएगी। इसलिए मन को प्रसन्न रखने का कुछ इन्तजाम करो। लेकिन विचार करने की बात यह है कि बाहरी मन-बहलाव से भीतर के रस पर से व्यक्ति का ध्यान हट जाता है। छात्रावास के जिस कमरे में मैं रहती थी, उसकी दीवारें ऐसी ही सूनी रहती थीं। कभी-कभी कोई सखी-सहेली भीतर आती, तो पूछती कि तुम दीवारें सूनी क्यों रखती हो ? कोई सुन्दर चित्र लटका लो। और मैं सोचती कि ओस चाटने से प्यास बुझाई जा सकती है क्या ? दीवारों पर चित्र

लटका कर चित्त की नीरसता को मिटाया जा सकता है क्या? उसमें सरसता लाई जा सकती है क्या?

साधक भाई-बहिनों से निवेदन करती हूँ कि जब कभी भीतर से सूना-सा लगे, तो उस घड़ी का बहुत अच्छा उपयोग करना चाहिए। अपने में खूब जागृति और चेतना लानी चाहिए कि यह नीरसता तो मेरे रस स्वरूप प्रेमास्पद प्रभु की याद दिला रही है। इस तरह अगर मूल बात पर दृष्टि चली गयी, तो बाहर की दौड़-धूप खत्म हो जाएगी। प्रवृत्ति का संकल्प नहीं रह जाएगा, तो आपको शान्ति मिलेगी, विश्राम मिलेगा। अगर मन-बहलाव पर दृष्टि गयी, तो शान्त नहीं रह पाएँगे। प्रवृत्ति में डूब जाएँगे, क्योंकि बिना प्रवृत्ति के मन-बहलाव होता ही नहीं। अतः साधक वर्ग को निःसंकल्पता की शान्ति में रहने का स्वभाव बनाना चाहिए और भीतर से कमी या अभाव लगे, तो उसे प्रभु का दिया हुआ शुभ संवाद समझना चाहिए कि हम तो भूल गये थे। हमारे प्यारे को हमारी याद आ रही है। उनसे विमुख होने की यह चेतावनी है। तो एकदम शान्त हो जाओ, एकान्त में बैठ जाओ और उन्हीं से अपनी अन्तर्वेदना कहो।

जब मैं स्वामी जी के पास आई, तो हृदय की व्यथा बताते हुए पूछा—कि संसार में अपना कहने लायक कोई दिखता नहीं और बिना किसी को अपना बनाए रहा नहीं जाता, इस दुःख का निवारण कैसे करें? तब स्वामीजी महाराज ने धीरे-धीरे करके मेरी शंकाओं को मिटाया और परमात्मा का परिचय दिया। उन्होंने बताया कि प्रेम स्वरूप परमात्मा ही अपने हैं और उनके साथ प्रेम के आदान-प्रदान में ही जीवन पूर्ण होता है। इसके अनुसार अपने को प्रेम-भाव से समर्पित करने में भी मुझे असमर्थता सताने लगी। हृदय में नीरसता और सूनापन आया हुआ था और प्रेम-भाव का अभाव मालूम होता था। तब हृदय की व्यथा को बड़ी ललित साहित्यिक भाषा में उनसे कह सुनाया कि महाराज! मैं कब से थाल

सजाकर देव-मन्दिर के द्वार पर खड़ी हूँ, तृष्णा की अग्नि से अर्घ्य के पात्र का जल सूख गया, क्या अन्दर लेकर जाऊँ? पुष्प की पंखुड़ियाँ मुरझा गईं महाराज! कुछ बचा नहीं। उनको क्या देने के लिए अन्दर जाऊँ? अन्तर्दृष्टि रखने वाले सन्त मेरी व्यथा को समझ गये। मेरी पीड़ा उनके भीतर समा गयी। कहने लगे, कोई बात नहीं। कह दो, उन्हीं से कह दो कि तुम्हारी पूजा की अभिलाषा तो है, परन्तु हे उदार! मेरे पास पूजा की सामग्री नहीं है। तो लाली, तुम विश्वास करो, तुम्हारा साज-सामान घट गया तो क्या हुआ? उनका भी घट गया क्या? उनके पास भी कमी है क्या? उनको तो मानव-हृदय का प्रेम इतना पसन्द है, इतना पसन्द है कि तुम्हारे भीतर का रस सूख गया, तो वे अपना ही अनन्त रस तुम्हारे में भर देंगे और तुम जब अर्पण करोगी तो वे अच्छा मानेंगे, आनन्दित होंगे, स्वयं तुमको आनन्दित करेंगे और बड़ा उपकार मानेंगे। तो दिया हुआ उनका ही है और उन्हीं के प्रति अर्पित है और वे जानते हैं कि मेरा दिया हुआ है, फिर भी उपकार मानते हैं, आनन्दित होते हैं, और बहुत ही उपकृत हो करके देने वाले भक्त को अपना प्रेमास्पद बनाते हैं।

रामावतार और कृष्णावतार दोनों ही चरित्रों में जब वे हमारे समान होकर हमारे बीच में पधारे, तो उन्होंने अपने इस स्वभाव का बड़ा बढ़िया परिचय दिया। जनकपुरी से विदाई के दिन नजदीक आ रहे हैं। रह-रहकर समाचार आ रहा है, चक्रवर्ती महाराज दशरथ के यहाँ से, कि बहुत दिन हो गये, अब विदा दीजिये, अब हम लोग जाएँगे। तो सखी-सहेलियाँ, नगर की सब लड़कियाँ, भौजाइयाँ, सबकी सब घेर करके बैठती हैं और कहती हैं कि हे लालन! आप चले जायेंगे, तो आपको देखे बिना तो हम रह नहीं सकतीं। कोई कहती, आप जाइए मत, आप यहीं रहिए। कोई कहती आप जाएँ तो हमें भी ले जाइए। यह तो सबको मालूम था कि वे मर्यादा पुरुषोत्तम हैं, एक स्त्री के अलावा दूसरा विवाह नहीं कर सकते हैं। फिर भी वे प्रेम के प्रवाह में बह कर यही कहती हैं कि हम दासी होकर

रहेंगी। हम महल की छोटी-छोटी टहल करेंगी। लेकिन हे लालन ! हमको छोड़कर मत जाइए, हम रहेंगी कैसे ? तो जैसे-जैसे इन भक्तों के हृदय में भक्ति की लहर उमड़ती है, वैसे-वैसे वे सम्पूर्ण सब प्रकार से प्रेमस्वरूप परमात्मा उन सखी-सहेलियों के बस में हो करके कहते हैं कि हे सखियो ! आपने जो किया सो किसी ने नहीं किया। आप इस बात को ध्यान में रखिए और बिल्कुल अधीर मत होइए। मैं सदा आपका ही हूँ और यह सच्ची बात है कि मैं आपसे विलग नहीं होऊँगा और मैंने ऐसा सुना है कि उन्होंने वचन दिया और जिन-जिन ने उस भाव से उस वचन को ग्रहण किया, उन्होंने कभी ऐसा नहीं पाया कि रघुनन्दन जी हमारे बीच में नहीं हैं। वाटिका-विहार में जगह-जगह उनके दर्शन होते रहते और उनको ऐसा ही लगता कि हमने जो रघुवर जी को कहा था कि हमें छोड़कर मत जाना, तो उन्होंने अपना वचन निभाया और वे नहीं गए।

ऐसी ही चर्चा आपने बज के सम्बन्ध में भी सुनी होगी। सखियों और सखाओं के प्रेम से विभोर हो रहे हैं। बेचारे गाँव के रहने वाले ग्वाल-बाल रह-रह कर कह रहे हैं, दादा ! तेरे संग मिलना, तेरे संग गायें चराना, तेरे संग गेंद खेलना कितना अच्छा लगता है ! दादा, तू हम लोगों को छोड़कर कभी जाएगा तो नहीं ? और उनके प्रेम से विभोर होकर उन्होंने वचन दे दिया कि नहीं जाऊँगा, नहीं जाऊँगा, कभी नहीं जाऊँगा। मैंने ऐसा सुना है कि अनेकों कथाएँ, अनेकों घटनाएँ ऐसी हुई हैं कि उन प्रेमीजनों को उनका वियोग मालूम नहीं होता था।

सन्त हृदय की करुण पुकार

हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे समर्थ हे करुणासागर विनती यह स्वीकार करो ,
हे समर्थ हे करुणासागर विनती यह स्वीकार करो ,
भूल दिखाकर उसे मिटाकर अपना प्रेम प्रदान करो ।
भूल दिखाकर उसे मिटाकर अपना प्रेम प्रदान करो ।
पीर हरो हरि पीर हरो हरि पीर हरो प्रभु पीर हरो ।
पीर हरो हरि पीर हरो हरि पीर हरो प्रभु पीर हरो ।